स्कूलों को पत्र

भाग–2

जे० कृष्णमूर्ति

स्कूलों को पत्र

भाग-2

जे० कृष्णमूर्ति

अनुवाद

मुकेश

कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया

Schoolon Ko Patra - Bhag 2

Hindi Translation of 'Letters to the Schools - Volume 2' by J. Krishnamurti

Translated by Mukesh Gupta

First Edition in 2001

Published by
Krishnamurti Foundation India

Contact Address
KFI, Rajghat Education Centre
Rajghat Fort, Varanasi 221 001
E-mail: kcentrevns@satyam.net.in

Price: Rs. 40

Printed by
Sattanam Printers
Pandeypur, Varanasi 221 002
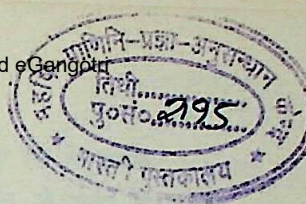
परिचय

जे० कृष्णमूर्ति का जन्म 11 मई 1895 को आन्ध्र प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे मदनापल्ली में एक धर्म-परायण परिवार में हुआ था। किशोरकाल में उन्हें थियोसॉफ़िकल सोसाइटी की अध्यक्ष डॉ० एनी बेसेंट द्वारा गोद ले लिया गया। कृष्णमूर्ति आगामी 'विश्व शिक्षक' ('वर्ल्ड टीचर') होंगे, ऐसा श्रीमती बेसेंट और अन्य लोगों ने घोषित किया। थियोसॉफ़ी के अनुयायी पहले-ही किसी 'विश्व-शिक्षक' के आगमन की भविष्यवाणी कर चुके थे। धर्मग्रन्थों में भी ऐसा वर्णित है कि मानवता के उद्धार के लिए समय-समय पर 'विश्व शिक्षक' मनुष्य का रूप धारण करता है।

सन् 1922 में कृष्णमूर्ति किन्हीं गहरी आध्यात्मिक अनुभूतियों से होकर गुजरे और उन्हें उस करुणा का स्पर्श हुआ— जैसाकि उन्होंने कहा— जो सारे दुख-कष्टों को हर लेती है। इसके बाद आगे के साठ से भी अधिक वर्षों तक, जब तक कि 17 फ़रवरी 1986 को उनकी मृत्यु नहीं हो गई, वे अनथक रूप से पूरी दुनिया का दौरा करते रहे— सार्वजनिक वार्ताएँ तथा संवाद करते हुए, संभाषण और साक्षात्कार देते हुए, लिखते और बोलते हुए। उन्होंने यह भूमिका सत्य के प्रेमी और एक मित्र के रूप में निभाई— गुरु के रूप में उन्होंने स्वयं को कभी नहीं रखा। उन्होंने जो भी कहा वह उनकी अन्तर्दृष्टि का संप्रेषण था— वह महज़ किताबी या बौद्धिक ज्ञान पर आधारित नहीं था। उन्होंने दर्शनशास्त्र की किसी नई प्रणाली की व्याख्या नहीं की, बल्कि हमारी जो रोज़मर्रा की ज़िन्दगी है उसी की ओर उन्होंने हमें सचेत किया— भ्रष्टाचार और हिंसा से भरे समाज की ओर, सुरक्षा और सुख की तलाश में भटकते मनुष्य की ओर, उसके भय, दुख और संघर्ष की ओर। उन्होंने बड़ी बारीकी से मानव मन की गुत्थियों को सुलझाया और इस बात की महत्ता की ओर संकेत किया कि हमारा दैनिक जीवन सच्चे अर्थों में ध्यान और धार्मिकता की गुणवत्ता से आलोकित होना चाहिए। उन्होंने एक ऐसे आमूलचूल और बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया जो एक नितान्त नये मानस और नयी संस्कृति को जन्म दे सके।

कृष्णमूर्ति को पूरे विश्व में अब तक के महान धार्मिक शिक्षकों में से एक माना जाता है, लेकिन उन्होंने स्वयं को कभी किसी धर्म, सम्प्रदाय या देश विशेष से जुड़ा हुआ नहीं माना। उन्होंने स्वयं को कभी किसी राजनैतिक सोच या विचारधारा से नहीं जोड़ा। इसके विपरीत उनका कहना था कि ये चीज़ें मनुष्य-मनुष्य के बीच अलगाव पैदा करती हैं और अन्ततः संघर्ष और युद्ध का कारण बनती हैं। उन्होंने इस बात पर हमेशा जोर दिया कि मनुष्य की चेतना और मानवजाति की चेतना अलग नहीं है, बल्कि हमारे भीतर पूरी मानवजाति, पूरा विश्व प्रतिबिम्बित होता है। प्रकृति और परिवेश से मनुष्य के गहरे रिश्ते और तादात्म्य की उन्होंने बात की। इस प्रकार उनकी शिक्षा मानव निर्मित सारी दीवारों, धार्मिक विश्वासों, राष्ट्रीय बँटवारों, और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों से परे जाने का सन्देश देती है।

कृष्णमूर्ति के साहित्य में उनकी सार्वजनिक वार्ताएँ, प्रश्नोत्तर, परिचर्चाएँ, साक्षात्कार, निजी संवाद तथा नोटबुक-जर्नल आदि के रूप में उनका स्वयं का लेखन शामिल है। बहुत सारी पुस्तकों के रूप में मूल अंग्रेजी में प्रकाशन के साथ उनका विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त बिल्कुल प्रामाणिक और मूल रूप में उनकी शिक्षा ऑडियो और वीडियो टेपों के माध्यम से भी उपलब्ध है। उन्होंने अध्ययन केन्द्रों ('स्टडी सेन्टर') की स्थापना भी की, जहाँ सत्यान्वेषी जाकर उनकी शिक्षाओं का गंभीरता से अध्ययन और आत्म-अनुसन्धान कर सकें। कृष्णमूर्ति ने भारत और विदेशों में विद्यालयों की भी स्थापना की जहाँ बच्चों को भय और प्रतिस्पर्धा से मुक्त वातावरण में खिलने और विकसित होने का अवसर मिल सके।

'कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया' कृष्णमूर्ति की किताबों को मूल अंग्रेजी में और विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराने का कार्य कर रहा है। फ़ाउण्डेशन का प्रमुख सरोकार है कि कृष्णमूर्ति की शिक्षा को किसी भी रूप में विकृत नहीं होने दिया जाये और जितना अधिक सम्भव हो लोगों को आसानी से उपलब्ध कराया जाये।

प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद कार्य को पूरा करने के लिए फ़ाउण्डेशन श्री मुकेश का आभार प्रकट करता है।

अनुक्रमणिका
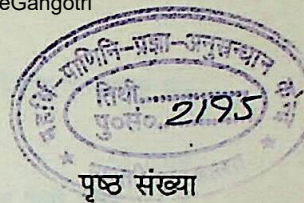
इस पुस्तक में संकलित पत्र जे० कृष्णमूर्ति द्वारा निम्न विद्यालयों को भेजे गए:

भारत में:

ऋषि वैली स्कूल
ऋषि वैली-517352
जिला - चित्तूर, आन्ध्र प्रदेश

राजघाट बेसेंट स्कूल
राजघाट फ़ोर्ट,
वाराणसी-221001

द स्कूल
'दामोदर गार्डन्स'
बेसेंट एवन्यू , मद्रास-600020

द वैली स्कूल
'हरिद्वनम' 17 के०एम० कनकपुरा रोड
थाटगुनी, बंगलौर-560062

बाल आनन्द
'आकाश दीप'
28 डोंगेर्सी रोड, मुंबई-400006

अमेरिका में:

द ओक ग्रोव स्कूल,
पोस्ट बॉक्स-1560
ओहाय, कैलीफ़ोर्निया 93023

इग्लैंड में:

ब्रॉकवुड पार्क
ब्रेमडन, हैम्पशायर
SO240LQ, UK

प्रस्तावना

ये पत्र अवकाश के क्षणों में कभी-कभार पढ़ लेने के लिए नहीं हैं और न ही ये आपके मनोरंजन के लिए हैं। ये पत्र गम्भीरता से लिखे गये हैं और यदि आप इन्हें पढ़ना चाहते हैं तो इस दृष्टि से पढ़ें कि जो कुछ इनमें कहा गया है उसका आप गम्भीरता से अध्ययन कर सकें, उसी तरह जैसे आप एक फूल का अत्यन्त सावधानीपूर्वक अध्ययन करते हैं, उसकी पंखुड़ियों, उसके डंठल, उसके रंग, उसकी ख़ुशबू और उसकी ख़ूबसूरती को ध्यानपूर्वक निहारते हुए। इन पत्रों का इसी तरह से अध्ययन किया जाना चाहिए; ऐसा नहीं होना चाहिए कि सुबह पढ़ा और दिनभर भूले रहे। इनके अध्ययन के लिए हमें पर्याप्त समय देना चाहिए, इनके साथ खेलना और प्रश्न करना चाहिए, बिना इन्हें स्वीकारे इनकी जाँच-पड़ताल करनी चाहिए, इनके साथ कुछ समय तक रहना चाहिए, जिससे कि इन्हें आप आत्मसात कर लें और ये आपके हो जायें, न कि लेखक के।

— जे० कृष्णमूर्ति

15 नवम्बर 1981

हर पेशे का अपना अनुशासन है, हर क्रिया की अपनी दिशा है और हर विचार का अपना एक लक्ष्य है। इसी चक्र में मानव-मन फँसा रहता है। मन, जो कि ज्ञात का गुलाम है, अपनी परिधि में ही अपने ज्ञान और क्रियाकलाप को बढ़ाने की कोशिश करता है तथा उसी परिधि में उसके विचार अपने लक्ष्य की तलाश में घूमते हैं। सभी विद्यालयों में अनुशासन एक ऐसे साँचे के रूप में माना जाता है जिसमें मन और उसके क्रियाकलाप ढल सकें। लेकिन हाल के वर्षों में किसी भी प्रकार के नियंत्रण, प्रतिबन्ध और संयम के विरुद्ध विद्रोह देखने को मिला है। इससे हर प्रकार की उन्मुक्तता, निर्लज्जता और किसी भी क़ीमत पर सुख-तलाश की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है। किसी के भी पास किसी के लिए आदर का भाव नहीं है। ऐसा लगता है सभी ने अपनी आन्तरिक गरिमा और गहरी अखंडता को खो दिया है। नशीली दवाओं पर, शरीर और मस्तिष्क के विनाश पर अरबों रुपए खर्च किए जा रहे हैं। इस पूर्ण उन्मुक्तता को प्रतिष्ठा की नज़रों से देखा जाता है और जीवन के मानक के रूप में यह स्वीकृत है।

एक अच्छे मन यानी एक ऐसे मन के विकास के लिए जो जीवन को एक समग्र, अखंड इकाई की तरह देखने में समर्थ हो, यह ज़रूरी है कि हमारे सभी विद्यालयों में एक प्रकार का अनुशासन हो। 'अनुशासन' और 'नियम', ये कुछ ऐसे शब्द हैं जिन्हें शायद घृणा और तिरस्कार की नज़रों से देखा जाता है। हमें साथ मिलकर इन शब्दों को गहराई से समझना चाहिए।

यदि आप कुछ सीखना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि आपके पास अवधान हो। सीखने के लिए केवल कान से सुन लेना भर पर्याप्त नहीं है बल्कि जो कहा जा रहा है उसके प्रति गहरी समझ भी ज़रूरी है। सीखने के लिए ध्यानपूर्वक अवलोकन की आवश्यकता है। जब आप इन वक्तव्यों को सुनते या पढ़ते हैं तो आपको बिना किसी दबाव, बिना किसी पुरस्कार या दण्ड की आशा के ध्यान

देना होता है। अनुशासन का अर्थ है सीखना, न कि अनुसरण करना। यदि आप एक अच्छे बढ़ई बनना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि आप एक अनुभवी बढ़ई से तरह-तरह की लकड़ी पर सही औजारों का इस्तेमाल करना सीखें। यदि आप अच्छे डॉक्टर बनना चाहते हैं तो आपको सालों अध्ययन करना पड़ेगा, शरीर और इसके इलाज से जुड़ी सारी जानकारियाँ हासिल करनी पड़ेंगी। हर पेशे की यह माँग होती है कि आप उसके बारे में जितना अधिक सम्भव हो सीख जायें। इस प्रकार सीखने में जानकारियाँ इकट्ठी करनी पड़ती हैं, जितना सम्भव हो उतनी कुशलता से काम करना पड़ता है। अनुशासन की प्रकृति में ही सीखना निहित है। समय पर भोजन करना, समय पर विश्राम करना क्यों ज़रूरी है, यह सीखना जीवन की व्यवस्था के बारे में सीखना है। एक अस्त-व्यस्त संसार में जहाँ राजनैतिक, सामाजिक और यहाँ तक कि धार्मिक रूप से इतनी अधिक अराजकता है वहाँ हमारे विद्यालय व्यवस्था और प्रज्ञा की शिक्षा के केन्द्र होने चाहिए। विद्यालय वह पावन स्थान है जहाँ सभी मिलकर जीवन की जटिलता और उसकी सरलता के बारे में सीखते हैं।

अतः सीखने के लिए उद्यम की और व्यवस्था की आवश्यकता है। अनुशासन का अर्थ अनुसरण कदापि नहीं है। इसलिए शब्दों से न तो डरिए और न उनसे विद्रोह कीजिए। शब्द हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। बहुत से लोगों के लिए कुछ शब्द तो बेहद अहमियत रखते हैं, जैसे ईश्वर, राष्ट्र, किसी राजनेता का नाम आदि।

शब्द छवियाँ हैं, जैसे किसी राजनेता की छवि, ईश्वर की छवि जो हज़ारों साल की सोच और भय का परिणाम है। हम छवियों के साथ जीते हैं जो या तो मन के द्वारा निर्मित होती हैं अथवा कुशल हाथों द्वारा। इन छवियों के बारे में सीखने के लिए जिन्हें हमने या तो स्वीकार कर लिया है अथवा स्वयं निर्मित किया है, आत्म-सजगता की आवश्यकता होती है।

शिक्षा का अर्थ केवल अकादमीय विषयों के बारे में जानना नहीं है बल्कि अपने-आपको शिक्षित करना है।

15 दिसम्बर 1981

विद्यालय सीखने का स्थान है इसलिए यह पवित्र है। मंदिर, मस्जिद, गिरजे पवित्र नहीं हैं क्योंकि इन जगहों ने सीखना बन्द कर दिया है। ये जगहें विश्वास-आस्था पर आधारित हैं इसलिए ये सीखने की महान कला को पूर्णतया नकारती हैं; जबकि ऐसे विद्यालयों को, जिनको यह पत्र लिखा जा रहा है, अवश्य ही सीखने के प्रति पूर्णतया समर्पित होना चाहिए। जिस सीखने की हम बात कर रहे हैं वह केवल अपने चारों ओर के संसार के बारे में सीखना नहीं है बल्कि मूलभूत रूप से इस बारे में सीखना है कि हम मनुष्य क्या हैं, हम किस तरह से और क्यों व्यवहार करते हैं, विचार की जटिलताएँ क्या हैं आदि। सीखना मनुष्य की प्राचीन परम्परा रही है और यह केवल किताबों के माध्यम से नहीं होता था बल्कि इसके अन्तर्गत मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रकृति और संरचना को समझना भी शामिल था। चूँकि हमने अभी इसकी पूरी तरह अवहेलना कर दी है इसलिए संसार में हर तरह की हिंसा, क्रूरता, अराजकता और आतंक का राज है। सांसारिक मामलों को हमने सबसे आगे कर दिया है और भीतरी जगत की ओर कोई ध्यान नहीं है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से बाहरी जगत चाहे जितना भी सुव्यवस्थित क्यों न हो, लेकिन अगर भीतरी जगत को गहराई से समझा, शिक्षित और परिवर्तित नहीं किया गया तो यह हमेशा बाहरी जगत को पराभूत करता रहेगा। इस सत्य को बहुत-से लोग भूल जाते हैं। बाहरी संसार में हम राजनैतिक, वैधानिक और सामाजिक तौर पर व्यवस्था लाने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन भीतर से हम भ्रान्त, अनिश्चित, दुश्चिन्ता और द्वन्द्व से घिरे हुए हैं। इसलिए जब तक भीतर व्यवस्था स्थापित नहीं होती तब तक मानव जीवन को हमेशा ख़तरा रहेगा।

व्यवस्था से हमारा मतलब क्या है? अपने गहनतम भाव में ब्रह्माण्ड में अव्यवस्था जैसा कुछ नहीं है। मनुष्य को प्रकृति चाहे जितना आतंकित करने

वाली क्यों न लगे लेकिन वह हमेशा व्यवस्था में रहती है। यह केवल तभी अव्यवस्था में आती है जब मनुष्य इसके साथ खिलवाड़ करने लगता है। और यह केवल मनुष्य ही है जो आरम्भ से अनवरत संघर्ष और द्वन्द्व में रहा है। बह्माण्ड की अपनी काल की गति है। मनुष्य को केवल तभी शाश्वत व्यवस्था के दर्शन होंगे जब वह अपने जीवन को व्यवस्थित कर लेगा।

आख़िर मनुष्य ने अव्यवस्था को क्यों स्वीकार किया हुआ है, क्यों वह इसे बरदाश्त करता आया है? ऐसा क्यों है कि वह जिस किसी भी चीज़ को स्पर्श करता है वह भ्रष्ट और पतित हो जाती है, उलझ जाती है? क्यों मनुष्य प्रकृति, बादल, हवा, जानवर और नदियों की व्यवस्था के विपरीत चला गया है। हमें यह अवश्य सीखना-समझना चाहिए कि मूलत: अव्यवस्था क्या है और व्यवस्था क्या है। मूल रूप से अव्यवस्था संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व है, हम जो हैं और जो बनना चाहते हैं उसके बीच का विभाजन है। व्यवस्था एक ऐसी अवस्था है जहाँ अव्यवस्था का कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा है।

काल की दासता अव्यवस्था है। काल हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अतीत की स्मृतियों, अतीत के आघातों और अतीत के सुखों में जीते हैं। हमारे सारे विचार अतीत के हैं। वर्तमान के साथ अपनी प्रतिक्रिया में अतीत हमेशा अपने को रूपान्तरित करता हुआ भविष्य में लाता है तथा गहरे जड़ जमाया हुआ अतीत हमेशा हमारे साथ रहता है— काल की यही वह विशेषता है जो हमें बन्धक बनाती है। अपने अन्दर इस तथ्य को हमें अवश्य देखना चाहिए और इसकी सीमित करने वाली प्रक्रिया का हमें ध्यान रखना चाहिए। जो चीज़ सीमित है वह हमेशा संघर्ष में रहती हैं। अनुभव, कर्म और मनोवैज्ञानिक प्रत्युत्तरों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अतीत है। यह ज्ञान मानवीय अस्तित्व के स्वभाव में है, इसका आभास हमें हो भी सकता है और नहीं भी। इसलिए अतीत परम्परा, अनुभव, स्मृति या छवि, किसी भी रूप में हो वह सर्वोपरि हो जाता है। लेकिन सारा ज्ञान, चाहे वह भविष्य का हो या अतीत का, सीमित है। पूर्ण ज्ञान जैसी कोई चीज़ नहीं है। ज्ञान और अज्ञानता एक-साथ चलते हैं।

हम इस सबके बारे में सीख रहे हैं और यह सीखना ही अपने-आप में व्यवस्था है। व्यवस्था कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसके बारे में योजना बनाई जाए

और फिर उस पर चला जाए। विद्यालय में एक दिनचर्या का होना ज़रूरी है लेकिन यही व्यवस्था नहीं है। एक अच्छी तरह से बैठाई गई मशीन कुशलता से ही काम करती है। विद्यालय में कुशल प्रबन्ध निहायत ज़रूरी है लेकिन यह कुशलता ही अपने-आप में सब कुछ नहीं है और इसे भ्रान्तिवश व्यवस्था नहीं मान लेना चाहिए। व्यवस्था द्वन्द्व से मुक्ति की अवस्था है।

अगर किसी शिक्षक ने यह सब गहराई से समझ लिया है तो वह कैसे अपने विद्यार्थियों को व्यवस्था की प्रकृति से अवगत कराएगा? यदि उसका स्वयं का आन्तरिक जीवन अव्यवस्था में है और वह व्यवस्था की बात करता है तो वह न केवल ढोंगी सिद्ध होगा, बल्कि विद्यार्थी भी यह महसूस करेंगे कि ये दोहरी बातें हैं और वे उसकी ओर ज़रा-भी ध्यान नहीं देंगे। यदि शिक्षक अपनी समझ में स्पष्ट और सुनिश्चित है तो उसकी इस गुणवत्ता को विद्यार्थी स्वतः ग्रहण कर लेंगे। जब व्यक्ति पूर्णतया निष्कपट और ईमानदार होता है तो उसकी यह निष्कपटता और ईमानदारी अपने-आप दूसरों में प्रवाहित हो जाती है।

15 जनवरी 1982

मुझे लगता है कि साथ मिलकर सोचने-विचारने की कला सीखना महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिकों से लेकर जो सबसे अनपढ़ लोग हैं, वे सभी सोचते-विचारते हैं। ये लोग अपने पेशे, अपनी विशेषता, अपने विश्वास और अनुभव के अनुसार सोचते हैं। हम सभी अपने-अपने ढंग से सोचते हैं, कुछ लोग वस्तुनिष्ठ ढंग से सोचते हैं तो कुछ अपनी विशेष प्रवृत्ति के अनुसार, लेकिन यह तय है कि हम कभी साथ मिलकर नहीं सोचते और न निरीक्षण करते हैं। हम किसी चीज़ के बारे में, किसी ख़ास समस्या या अनुभव के बारे में सोचते तो हैं, लेकिन यह सोच स्वयं अपनी सीमाओं के पार नहीं जा पाती है। जबकि साथ मिलकर सोचना, उसकी क्षमता का होना एक बिल्कुल अलग चीज़ है। महान संकट की घड़ी में जब संसार में भय, आतंक और युद्धों की पाशविकता बरकरार है, साथ मिलकर सोचना बेहद ज़रूरी हो जाता है। एक पूँजीवादी या समाजवादी, अथवा वामपंथी या दक्षिणपंथी की तरह नहीं बल्कि साथ मिलकर यह सब देखने के लिए यह ज़रूरी है कि हम यह समझें कि कैसे हम इस रोगपूर्ण अवस्था में पहुँचे हैं और साथ ही इससे बाहर निकलने का रास्ता क्या है। यदि कोई व्यवसायी या राजनीतिज्ञ इस समस्या को देखता है तो उसका एक सीमित दृष्टिकोण होगा और हम कह रहे हैं कि जीवन को समग्र रूप से देखा जाए , न कि अंग्रेज़, फ्राँसीसी या चीनी व्यक्ति की दृष्टि से।

जीवन को समग्र रूप से देखने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है मानव को, स्वयं को बग़ैर किसी राष्ट्रीय विभाजन के देखना, जीवन को बग़ैर किसी आदि, अंत और मृत्यु के, एक गति के रूप में देखना। इसे समझना एक कठिन चीज़ है क्योंकि हमारी सोच अंश की होती है, न कि पूर्ण की। हम पूर्ण का विभाजन करते हैं, इस उम्मीद के साथ कि विभाजित अंश से हम पूर्ण को समझ लेंगे।

साथ मिलकर सोचने यानी सहचिंतन की कला का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना ज़रूरी है, और इस बात का परीक्षण भी कि यह सम्भव है भी या नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिक्रियाओं, अनुभवों और पूर्वाग्रहों के आधार पर अपने सोचने के ढंग से चिपका रहता है। हम इसी तरह से संस्कारबद्ध हैं और इसी से सहचिंतन की क्षमता बाधित होती है। सहचिंतन का मतलब सहमति नहीं है। हमारे मन किसी आदर्श, ऐतिहासिक निष्कर्ष या दार्शनिक अवधारणा के इर्दगिर्द एकमत हो सकते हैं और उसके लिए काम भी कर सकते हैं, लेकिन इसकी बुनियाद अनिवार्य रूप से किसी प्रभुसत्ता पर आधारित होती है।

स्वतन्त्रता सहचिंतन का सार है। हम सभी को अपने-अपने विचारों, पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर एक साथ आना होगा और इस मुक्ति में शामिल होना होगा। इसका अर्थ है अपनी सारी संस्कारबद्धता को तिलांजली देना। इसका अर्थ है बग़ैर कसी अतीत के सम्पूर्ण अवधान की स्थिति में होना। वर्तमान विश्व-संकट के समाधान के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने उस कबीलाई स्वभाव को पूर्णतया त्याग दें जिसने महिमामंडित राष्ट्रवाद का रूप ले लिया है। सहचिंतन का अभिप्राय है कि अंग्रेज़, अरब या रूसी के रूप में हमारे जो अलग-अलग स्वार्थ जुड़े हुए हैं उनकी हम पूर्णतया तिलांजली दे दें।

तो इस अलगाव और स्वार्थ के ख़तरे को देखते हुए एक मनुष्य को क्या करना चाहिए? आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों की, कट्टर और विक्षिप्त नेताओं की विस्तारवादी गति कायम है और इस सबके सामने खड़े हुए मानव को क्या करना चाहिए? या तो आप इस सबसे मुँह मोड़कर उदासीनता में चले जाते हैं, अथवा किसी राजनैतिक हलचल का हिस्सा बन जाते हैं, या किसी धार्मिक संगठन की शरण ले लेते हैं। लेकिन आप इससे भाग नहीं सकते, यह आपके सामने है। फिर मुझे क्या करना चाहिए? वर्तमान सामाजिक ढाँचे और इसकी मूर्खतापूर्ण अधार्मिक क्रियाओं को मैं अस्वीकार करता हूँ। इस तरह से मैं पूर्णतया एकाकी हो जाता हूँ। यह एकाकीपन पलायन नहीं है, न ही यह किसी एकान्त में पहुँच जाने का रूमानी भ्रम है। क्योंकि मैं अलगाव की, राष्ट्रवाद-विस्तारवाद के पीछे छिपी स्वार्थ-भावना की तथा अधार्मिक जीवन की निरर्थकता को महसूस करता

हूँ इसलिए मैं इस समाज की घोर विध्वंसकता को अस्वीकार करता हूँ। इस तरह मैं अकेला खड़ा हूँ। चूँकि मनोवैज्ञानिक रूप से मैं मनुष्य की विध्वंसक चेतना में योगदान नहीं कर रहा हूँ इसलिए मैं उस धारा का हिस्सा हूँ जिसमें अच्छाई, करुणा और प्रज्ञा सम्मिलित हैं। यह प्रज्ञा ही काम करती है और वर्तमान जगत की विक्षिप्तता का सामना करती है। जहाँ कहीं भी कुरूपता होगी वहाँ यह प्रज्ञा काम करती रहेगी।

15 फरवरी 1982

अवधान का क्या अर्थ है, इस पर हमें मिलकर विचार करना चाहिए। एकाग्रता के बारे में हममें से अधिकांश लोग जानते हैं, क्योंकि बचपन से ही हमें किसी-न-किसी चीज़ पर एकाग्र होने के लिए बाध्य किया जाता है, और अक्सर ऐसा होता है कि हम उस चीज़ को पसन्द नहीं करते। इससे एक प्रकार के विद्रोह का जन्म होता है। तमाम तरह के विषयों को दिमाग़ में भरना शिक्षा का उद्देश्य हो गया है। शिक्षा हमें अनुसरण करने के लिए संस्कारबद्ध करती है। विश्व भर में लाखों-करोड़ों लोग शिक्षित हो रहे हैं और उन्हें कोई काम नहीं मिल रहा है। समाज का पूरा ढाँचा इतना अधिक अस्वाभाविक और ख़तरनाक हो गया है कि हमें सहजीवन का एक नया तरीक़ा ज़रूर खोज निकालना होगा। इसके लिए आवश्यक है संवेदनशीलता और साथ ही बहुत ही तथ्यपूर्ण अवलोकन और चिन्तन। एकाग्रता का अर्थ है प्रत्यक्ष अनुभूति को संकुचित कर देना। फिर कैसे यह एकाग्रता मन की एक भिन्न गुणवत्ता लाने में मदद कर सकती है?

आपको शिक्षित क्यों किया जा रहा है? एक मानव होते हुए आप क्या बनने जा रहे हैं? औसत दर्जे की मानसिकता हर जगह मौजूद है, ऊँची-से-ऊँची राजनैतिक सत्ताओं से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे धार्मिक संगठनों में। क्या आपको इसी ढाँचे के उपयुक्त होने के लिए शिक्षित किया जा रहा है? क्या आप महज़ एक औसत दर्जे के इन्सान बनने जा रहे हैं जिसके पास कोई उत्कटता नहीं है, जो अपने साथ और विश्व के साथ द्वन्द्व की हालत में है? यह वाक़ई एक गम्भीर प्रश्न है जिसे हमें अपने-आप से पूछना चाहिए। क्या यह एकाग्र, आक्रामक और प्रतिस्पर्धी मानव हमारे अस्तित्व में एक भिन्न व्यवस्था ला सकता है?

जैसा कि हमने कहा था कि अवधान क्या है इसके बारे में हमें मिलकर सोचना चाहिए। अवधान हमें एक सामंजस्यपूर्ण अस्तित्व तक पहुँचने का रास्ता दिखा सकता है। बुद्धि और मस्तिष्क का सारा कारोबार जो कि विचार की प्रक्रिया

है आज हमारे अस्तित्व पर प्रभुत्व जमाए हुए है। स्वभावत: यह हममें अन्तर्विरोधों और विचित्र व्यवहारों को जन्म देती है। हमारे वजूद का एक हिस्सा भी जब प्रभुत्व में होता है तो वह अनिवार्य रूप से हमारे अन्दर मनोविक्षेप लाता है। इसे नियंत्रित करने की नैसर्गिक चाहत के बिना, या भावावेश को इसके स्थान पर आने दिए बग़ैर बुद्धि के इस प्रभुत्व के प्रति सजग होना ही अवधान है। यह सजगता मन को सूक्ष्म, प्रखर और स्पष्ट बनाती है।

एकाग्रता और अवधान में अन्तर है। एकाग्रता का अर्थ है अपनी सारी ऊर्जा को एक बिन्दु पर संकेन्द्रित करना। जबकि अवधान में ऐसा कोई बिन्दु नहीं होता। एकाग्रता से हमारा काफ़ी अधिक परिचय है लेकिन अवधान से नहीं। जब आप अपने शरीर की ओर ध्यान देते हैं तो वह शान्त हो जाता है जिसका अपना एक अनुशासन है— तब आपका शरीर हलका होता है, लेकिन सुस्त नहीं होता और उसके पास सामंजस्य की ऊर्जा होती है। अवधान की स्थिति में अन्तर्विरोध नहीं होता और इसलिए द्वन्द्व नहीं होता। जब आप यह पढ़ रहे हों तो ज़रा ध्यान दें कि आप कैसे बैठते हैं, कैसे सुनते हैं, पत्र में जो कहा जा रहा है उसे कैसे ग्रहण करते हैं, कैसे उसके प्रति प्रतिक्रिया करते हैं, और क्यों उसके प्रति ध्यान देना आपके लिए कठिन होता है। *कैसे* ध्यान दिया जाए, आप यह नहीं सीख रहे हैं। यदि आप ध्यान देने का *तरीक़ा* सीखते हैं तो वह एक पद्धति बन जाती है जिसका मस्तिष्क आदी हो जाता है और इस तरह अवधान को आप एक यांत्रिक और दोहराने वाली वस्तु बना देते हैं। जबकि अवधान का यांत्रिकता और दोहराव से कोई सम्बन्ध नहीं है। अवधान का अर्थ है अपने सम्पूर्ण जीवन को स्वार्थ-केन्द्रिकता के बिना देखना।

1 अक्टूबर 1982

ऐसा लगता है सभी मनुष्यों का भविष्य उजाड़, अन्धकारमय और भयावह है। इसमें बच्चे, बूढ़े, जवान सभी आ जाते हैं। समाज भयानक रूप से अनैतिक और ख़तरनाक हो गया है। जब एक युवा व्यक्ति को संसार का सामना करना पड़ता है तो वह इस बात को लेकर चिन्तित होता है, बल्कि भयभीत और आतंकित होता है कि जीवन में आगे चलकर उसके साथ क्या होने जा रहा है। उसके माँ-बाप उसे स्कूल पढ़ने के लिए भेजते हैं, और अगर उनके पास पैसा है तो कॉलेज भी; उनका सरोकार सिर्फ़ इतना रहता है कि कैसे भी उनके बच्चे को कोई नौकरी मिल जाए, उसकी शादी हो जाए, बच्चे हो जाएँ, आदि-आदि। ऐसा लगता है संसार भर में जितने माता-पिता हैं उनके पास अपने बच्चों के लिए बहुत कम समय है। पैदा होने के कुछ साल बाद ही वे अपने बच्चों से अलग हो जाते हैं, उनके बहुत कम सम्बन्ध रह ज़ाते हैं ख़ुद अपने बच्चों के साथ। उनकी ख़ुद की अपनी समस्याएँ होती हैं, महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं जिनको लेकर वे चिन्ताग्रस्त रहते हैं और उनके बच्चे उन शिक्षकों की दया पर जीते हैं जिन्हें ख़ुद शिक्षा की ज़रूरत है। अकादमीय तौर पर, विद्वत्ता के क्षेत्र में वे श्रेष्ठ हो सकते हैं तथा अपने विद्यालय एवं विद्यार्थियों को ऊँची-से-ऊँची श्रेणी एवं ख्याति दिलाने के लिए चिन्तित भी, लेकिन उनकी ख़ुद की ढेरों समस्याएँ होती हैं। कुछ मुल्कों को छोड़कर उनके वेतन काफ़ी कम हैं और सामाजिक तौर पर भी उनका अधिक आदर-सम्मान नहीं है।

तो विद्यार्थियों को अपने माता-पिता, शिक्षकों और सहपाठियों के साथ एक बड़े कठिन दौर से गुज़रना पड़ता है। संघर्ष, दुश्चिन्ता, भय, प्रतिस्पर्धा की धाराएँ उनके अन्दर पहले से ही बहना शुरू हो जाती हैं। बढ़ती आबादी, कुपोषण, निर्धनता, आतंकवाद, भ्रष्टाचार और अयोग्य सरकारें— इन सबका सामना विद्यार्थी को करना पड़ता है। अच्छी तरह व्यवस्थित और सम्पन्न मुल्कों में यह संकट

कम देखने में आता है, लेकिन दुनिया के उन मुल्कों में यह साफ़ महसूस होता है जहाँ भयानक आबादी और ग़रीबी है, और जहाँ अयोग्य शासकों की उदासीनता बरकरार है। यही वह संसार है जिसका सामना युवा पीढ़ी को करना है और स्वाभाविक है कि वे वाक़ई भयभीत और डरे-सहमे हैं। उनकी यह सोच रहती है कि वे नित्यक्रम के बन्धन से मुक्त हों, और बड़ों के द्वारा शासित न हों। इसलिए वे हर तरह की सत्ता-प्रभुता से दूर भागते हैं। स्वतन्त्रता का उनके लिए अर्थ होता है कि वे जो चाहें सो करें। लेकिन वे भ्रान्त और अनिश्चित रहते हैं और चाहते हैं कि कोई उन्हें बता दे कि उन्हें क्या करना है।

पूरब के देशों में माता-पिता और परिवारों की शक्तिशाली भूमिका रहती है। पारिवारिक इकाई आज भी वहाँ है। उनके बच्चे दुनिया के किसी भी हिस्से में आजीविका कमा रहे हों लेकिन उनके जीवन की धुरी परिवार में ही रहती है। जबकि पश्चिमी देशों में यह सब तेज़ी से विलुप्त हो रहा है। इस तरह विद्यार्थी दो हिस्सों में बँटकर रह जाता है— एक तरफ़ तो उसकी यह चाहत है कि वह अपनी मर्ज़ी के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र हो, और दूसरी तरफ़ समाज है जिसकी यह माँग है कि व्यक्ति उसकी ज़रूरतों के मुताबिक़ चले और एक इंजीनियर, वैज्ञानिक, सैनिक या कोई विशेषज्ञ बन जाए। सच में यह एक भयानक संसार है जिसका सामना उन्हें करना है और अपनी शिक्षा के चलते उसका एक हिस्सा बन जाना है।

हम सभी भौतिक रूप से और साथ-ही भावात्मक रूप से सुरक्षा चाहते हैं। और यह अधिक-से-अधिक कठिन और पीड़ादायी होता जा रहा है। तो हम बुज़ुर्ग पीढ़ी के लोगों को, अगर हमें अपने बच्चों की ज़रा-भी परवाह है, यह ज़रूर पूछना चाहिए कि आख़िर शिक्षा का अर्थ क्या है। अगर वर्तमान शिक्षा बच्चों को सतत संघर्ष, स्पर्धा और भय में रहने के लिए ही तैयार कर रही है, जैसा कि दुनिया भर में हो रहा है, तो हमें यह निश्चित तौर पर पूछना चाहिए की इस सबका अर्थ क्या है। जीवन क्या पीड़ा, दुख और दुश्चिन्ताओं का ही सिलसिला है जिसमें कभी-कभार ख़ुशियों की कुछ लहरें उठ जाया करती हैं? दुर्भाग्यवश हम, पुरानी पीढ़ी के लोग, इस प्रकार के सवाल नहीं पूछते और न ही शिक्षक। तो शिक्षा— जैसे कि यह अभी है— एक नीरस, विषादपूर्ण, संकुचित

और अर्थहीन अस्तित्व को झेलते जाने की प्रक्रिया है। लेकिन हम जीवन को एक अर्थ भी देना चाहते हैं। हालांकि जैसा प्रतीत होता है जीवन का अपने-आप में कोई अर्थ नहीं है, फिर भी हम इसे एक अर्थ देने की कोशिश करते हैं और इस क्रम में देवताओं, तरह-तरह के धर्मों, और बाक़ी मनोरंजनों— जैसे राष्ट्रवाद, एक-दूसरे को मारने के तरीकों आदि का आविष्कार करते हैं। अपनी नीरस-उबाऊ ज़िन्दगी से भागने के लिए हम यह सब करते हैं। पुरानी पीढ़ी की ज़िन्दगी यही रही है और आने वाली युवा पीढ़ी की ज़िन्दगी भी यही होगी।

अब हम माता-पिता और शिक्षकों को इस हक़ीक़त का सामना करना पड़ेगा— सिद्धान्तों की आड़ में या अन्य तरह के शैक्षिक ढाँचों की खोज के नाम पर हम इससे बच नहीं सकते। हम किस चीज़ का सामना कर रहे हैं, अगर इसको लेकर ही हम स्पष्ट नहीं हैं तो हम निश्चित तौर पर— चेतन या अचेतन रूप से— अन्तर्द्वन्द्व और भ्रम की निष्क्रियता में चले जायेंगे। वैसे तो राह दिखाने के लिए बड़ी तादाद में विशेषज्ञ और सनकी लोग मौजूद हैं। हमारे साथ दिक़्क़त यह है कि हम समस्या की जटिलता को समझने से पहले ही उससे निपट लेना चाहते हैं। पूरी समस्या को ध्यान से देखने की बजाय कुछ करने पर हम ज़्यादा आमादा रहते हैं।

वास्तविक चीज़ हमारे चित्त की गुणवत्ता और उसकी गहराई है, न कि उसका ज्ञान-संग्रह। चित्त अनन्त-असीम है, और यही ब्रह्मांड की प्रकृति भी है जिसकी अपनी व्यवस्था है और जिसके पास विराट ऊर्जा है। इस निस्सीमता में चित्त सदा मुक्त रहता है। अभी हमारा मस्तिष्क ज्ञान का ग़ुलाम है और इसलिए सीमित व खंडित है। जब वह स्वयं को अपनी संस्कारग्रस्तता से मुक्त कर लेता है तो अनन्त और असीम हो जाता है, और तब चित्त एवं मस्तिष्क के बीच कोई विभाजन नहीं रह जाता। शिक्षा तब संस्कारबद्धता से तथा परम्परा के रूप में संचित ज्ञान से मुक्ति की अवस्था होती है। इसका अर्थ अकादमीय शिक्षा को नकार देना भी नहीं है क्योंकि जीवन में उसका भी अपना स्थान है।

15 अक्टूबर 1982

जैसा कि हमने कहा शिक्षा का उद्देश्य केवल अकादमीय विषयों में निपुणता हासिल कर लेना नहीं है बल्कि मानव-आचरण की संस्कारबद्धता का अन्वेषण करना भी है। आज मनुष्य का जो आचरण है वह सदियों के भय, द्वन्द्व, दुश्चिन्ता और सुरक्षा की खोज का परिणाम है। और सुरक्षा की यह खोज केवल बाहरी, जैविक या शारीरिक स्तर पर नहीं होती, बल्कि भीतरी और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी होती है। मस्तिष्क इन्हीं सब प्रक्रियाओं से गुज़रता हुआ संस्कारित होता है। मस्तिष्क क्रमविकास का परिणाम है और क्रमविकास समय है। हम संचित अतीत के परिणाम हैं—धर्म के क्षेत्र में भी और अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में भी। यह पुरस्कार और दंड पर आधारित है—उसी तरह जैसे एक जानवर या कुत्ते को लोभ-लालच या सज़ा देकर प्रशिक्षित किया जाता है। हमारा मस्तिष्क असीम ऊर्जा और क्षमता से युक्त एक अद्‌भुत यन्त्र है। बाहरी संसार में इसने क्या किया है आप देख सकते हैं। संसार को इसने तमाम जातियों, धर्मों और राष्ट्रीयताओं में बाँटकर रख दिया है। और इसने ऐसा क्यों किया है? ज़ाहिर है सुरक्षा के लिए। और यह सुरक्षा उसने स्वयं को धार्मिक, राजनीतिक, और आर्थिक तौर पर पृथक करके, स्वयं को पारिवारिक इकाइयों, समुदायों और समाजों में बाँटकर पाई है। इसकी तलाश उसने विभिन्न संगठनों और ढाँचों में की है।

युद्ध के प्रमुख कारणों में से एक राष्ट्रवाद रहा है। हमारे राजनेताओं को इस बात की चिन्ता रहती है कि कैसे राष्ट्रवाद और उसकी अर्थव्यवस्था को क़ायम रखा जाए। इस तरह वे अलगाव पैदा करते हैं। जहाँ अलगाव है वहाँ विरोध और आक्रामकता होगी ही; वहाँ दूसरे राष्ट्रों के साथ अच्छे सम्बन्धों का मतलब होगा व्यापार, हथियारों का लेनदेन, शक्ति सन्तुलन और इस प्रकार कुछ के हाथों में शक्ति का होना। हमारी सरकारों का यही मतलब है, चाहे वे टोटेलिटेरियन (सर्वसत्तात्मक) हों या लोकतान्त्रिक। राजनीतिक हस्तक्षेप से समाज में व्यवस्था आएगी ऐसा मानकर हम राजनेताओं पर आश्रित हो जाते हैं। और क्या इसीलिए

गुरुओं, धर्माधिकारियों की तरह राजनेता भी इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं? क्या इसके पीछे यही कारण है कि हम हमेशा बाहरी माध्यमों और शक्तियों पर निर्भर करते आए हैं, फिर वह चाहे अपने घर को व्यवस्थित करने का प्रश्न हो या अपने जीवन को नियंत्रित करने व सँवारने का? सरकारों, हर क्षेत्रविशेष के नेताओं तथा माता-पिताओं की बाहरी सत्ता भविष्य के लिए कुछ आशा देती हुई हमें लगती है। निर्भर रहने और आँख मूँदकर स्वीकारने की हमारी जो परम्परा है उसी का यह हिस्सा है। यह हमारी लम्बी संचित की हुई परम्परा है और हमारा मस्तिष्क इसी से संस्कारित है। शिक्षा ने यह सब स्वीकार कर लिया है और इसीलिए हमारा मस्तिष्क यांत्रिक और दुहराने वाला बन गया है।

तब क्या शिक्षक का यह काम नहीं है कि वह अतीत की उस विशाल संचित ऊर्जा को समझे, और साथ-ही जीवन के किन्हीं क्षेत्रों में उसकी आवश्यकता से इन्कार न करे? क्या शिक्षक के नाते हमारा सरोकार एक अच्छे मानव के विकास से नहीं है? लेकिन यह तब मुमकिन नहीं है जब अतीत किसी-भी रूप में सक्रिय रहता है। तो फिर हमारी संस्कारबद्धता के क्या कारण हैं? वह क्या चीज़ है जो संस्कारबद्ध होती है और वह कौन-सी चीज़ है जो संस्कारबद्ध करती है? जब हम यह प्रश्न पूछते हैं क्या हमें अपनी ख़ुद की वास्तविक संस्कारबद्धता का अहसास होता है? क्या यह प्रश्न अपनी संस्कारबद्धता की समझ में से आता है जिसकी अपनी जीवन्तता होती है, अथवा यह एक केवल सैद्धान्तिक, समस्यामूलक प्रश्न होता है? हम यहाँ अनुमान-आधारित प्रश्नों से नहीं जुड़े हैं, बल्कि हमारा सम्बन्ध यहाँ वास्तविकता और यथार्थ से है। हम पूछ रहे हैं मनुष्य की इस दशा का कारण क्या है? इसके पीछे एक कारण भी हो सकता है और अनेक भी। छोटी-छोटी धाराएँ अपना जल एक बड़ी नदी को सौंप देती हैं। किसी एक धारा की गहराई, मात्रा, सुन्दरता, यह सब महत्त्वपूर्ण है लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि हर धारा के श्रोत तक जाँच-पड़ताल करते हुए पहुँचा जाए। तो जाँच-पड़ताल में हमारा सरोकार अपने अस्तित्व की समग्रता से है न कि उसके किसी अंश से। जब हम जीवन की विशालता और उसकी जटिलताओं को गहराई से समझ लेते हैं, केवल तभी हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि हमारी संस्कारबद्धता का क्या कारण है।

मुझे ऐसा लगता है कि पहले यह समझ लेना महत्त्वपूर्ण है— शाब्दिक या बौद्धिक तौर पर नहीं बल्कि गहराई से— कि जीवन सब कुछ है, स्त्री-पुरुष, बच्चे, जानवर, नदियाँ, आसमान, जंगल सभी कुछ जीवन है। केवल इस विचार को नहीं बल्कि इसकी विशालता, व्यापकता और सुन्दरता को हमें महसूस करना है। जीवन की विशाल गति एक है— इसके महत्त्व को समझे बग़ैर हमारा यह पूछना कि संस्कारबद्धता का कारण क्या है जीवन में विखंडन ही लाएगा।

तो पहले यह महसूस करना है कि आकाश, धरती, मनुष्य का अस्तित्व अविभाजित है। इसके बाद हम कारण विशेष पर आते हैं। जब आकाश, धरती और मनुष्य एक-ही विशाल और समग्र प्रक्रिया का हिस्सा होते हैं तब संस्कारबद्धता के कारण की हमारी छानबीन विखंडन और विभाजन नहीं पैदा करती है। तब हमारे सवाल करने में गहराई और सौन्दर्य होता है।

कारण की खोज के लिए हमें मिलकर मानव मस्तिष्क की संरचना और स्वभाव की छानबीन करनी पड़ेगी। मस्तिष्क को अगर उसकी स्वाभाविक जैविक अवस्था में छोड़ दिया जाए तो हम देखेंगे कि उसके पास अपनी स्वाभाविक प्रज्ञा है, आत्मरक्षात्मक प्रत्युत्तर हैं; पर इसके साथ-ही उसका अपना एक पूरा मनोवैज्ञानिक जगत भी है जिसमें उसके अन्दरूनी प्रत्युत्तर, आघात, भय, अन्तर्विरोध, इच्छा-आकांक्षा, क्षणिक सुख और दुख का भारी-भरकम बोझ भी है। जब यह मनोजगत अव्यवस्थित, अस्तव्यस्त और भ्रान्त होता है तब स्वाभाविक है कि यह हमारे जैविक अस्तित्व को प्रभावित करता है। इससे मानसिक रुग्णता आती है। हमारा सरोकार अपने भीतरी स्वभाव की छानबीन से है, जो कि बहुत जटिलता लिये हुए है। यह छानबीन वस्तुतः आत्म-शिक्षण ही है जहाँ हम 'जो है' को बदलते नहीं, बल्कि समझते हैं। इसे समझना, इस प्रश्न के साथ जीना बहुत आवश्यक है। 'जो होना चाहिए' से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है 'जो है'। हम हक़ीक़त में जो हैं उसको समझना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है बनिस्बत इसके कि हम 'जो हैं' उसको बदलने का प्रयास करें। हम अपनी चेतना की अन्तर्वस्तु हैं। हमारी चेतना काफ़ी जटिल है लेकिन इसका मूल तत्त्व गतिशीलता है। हमारे सामने यह भी बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए कि हमारा सामना सिद्धान्तों, अनुमानों या आदर्शों से नहीं है बल्कि हमारी अपनी रोज़ाना की ज़िन्दगी से है।

1 नवम्बर 1982

शिक्षक और मनुष्य होने के नाते हमें अपने दैनिक जीवन से गहरा सरोकार है। हम पहले मनुष्य हैं, फिर शिक्षक— न कि पहले शिक्षक और फिर मनुष्य। एक मनुष्य होते हुए शिक्षण हमारा एक ख़ास पेशा है। शिक्षक का जीवन सिर्फ़ कक्षा तक सीमित नहीं है बल्कि उसका सरोकार बाहर की पूरी दुनिया से है और साथ-ही भीतरी द्वन्द्वों, महत्त्वाकांक्षाओं और सम्बन्धों से भी। वह उतना ही संस्कारबद्ध है जितना कि एक विद्यार्थी। हालांकि दोनों की संस्कारबद्धता में भिन्नता हो सकती है फिर भी है वह संस्कारबद्धता ही। अगर आप इसे इस तरह ले रहे हैं कि यह तो अनिवार्य है, इससे बचा नहीं जा सकता, तब आप दूसरों को और अधिक संस्कारबद्ध करने में मदद कर रहे हैं। ऐसे बहुत से लोग हैं जो इसे स्वीकार करते हैं और अपनी सीमाओं को रूपान्तरित करने का प्रयास करते हैं। परन्तु एक शिक्षक के नाते क्या आपका यह सरोकार नहीं है कि एक बिल्कुल भिन्न सामाजिक व्यक्तित्व अस्तित्व में आए , एक ऐसी पीढ़ी जो युद्धों और सुनियोजित हत्याकांडों की निहायत व्यर्थता को महसूस करे, एक ऐसी पीढ़ी जिसका सरोकार बिना राष्ट्रीय अलगाव के वैश्विक आपसी सम्बन्धों से हो, एक ऐसी पीढ़ी जो सत्य से जुड़ी हो? निश्चित रूप से एक सच्चे शिक्षक का यही दायित्व है।

मनुष्य की चेतना संस्कारबद्ध है। कोई भी विचारशील व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार कर लेगा। लेकिन अधिकांश लोगों को और शायद शिक्षक को भी इसका पता नहीं है। अपने प्रतिबन्धनों के प्रति सजग होना और यह पता लगाना कि इससे मुक्त होना सम्भव है कि नहीं, शिक्षक का दायित्व है। तो हमें इस प्रश्न में जाना होगा कि सजग होना क्या है, एकाग्र होना और पूर्ण ध्यान देना क्या है। इन सबके अर्थों को गहराई से समझ लेना बहुत ज़रूरी है।

सजगता का अर्थ है संवेदनशीलता— प्रकृति, पहाड़ियों, नदियों और पेड़ों के प्रति संवेदनशीलता; सड़क पर चलते हुए उस ग़रीब आदमी, उसकी भावनाओं,

उसकी प्रतिक्रियाओं, और उसकी भयानक ग़रीबी के प्रति संवेदनशीलता; अपनी बगल में बैठे हुए व्यक्ति के प्रति, या अपने मित्र या बहन की परेशानी के प्रति संवेदनशीलता। यह संवेदनशीलता चुनाव पर आधारित नहीं है, यह आलोचनात्मक नहीं है। यहाँ निर्णयात्मक मूल्यांकन के लिए कोई स्थान नहीं है। आप बादलों के प्रति संवेदनशील हैं जिनके लिए आप कुछ नहीं कर सकते। क्या यह संवेदनशीलता समय और अभ्यास का परिणाम है? अगर आप विचार और अभ्यास को बीच में लाते हैं तो संवेदनशीलता ख़त्म हो जाती है। संवेदनशीलता क्या होती है, संवेदनशील होकर अवलोकन करना क्या होता है, पता लगाइये— इसको विकसित करने का प्रयास मत करिए , बल्कि इसे समझिए। अब यह मत पूछिए कि इसे कैसे समझा जाए , कैसे आत्मसात किया जाए। प्रत्यक्ष बोध के साथ ही आप संवेदनशील हो जाते हैं। संवेदनशीलता में प्रतिरोध के लिए कोई स्थान नहीं होता। यह जो भी कुछ सामने है उसके प्रति होती है और इसकी कोई सीमा नहीं होती।

एकाग्रता प्रतिरोध की प्रक्रिया है। प्रत्येक शिक्षक जानता है कि एकाग्र होना क्या होता है। शिक्षक को इस बात से मतलब रहता है कि कैसे मस्तिष्क को विभिन्न विषयों की जानकारी से भरा जाए जिससे विद्यार्थी परीक्षा पास कर ले और कोई नौकरी पा जाए। विद्यार्थी के दिमाग़ में भी यही बात होती है। इस तरह शिक्षक और विद्यार्थी एक-दूसरे को एकाग्रता के रूप में (जो कि प्रतिरोध की क्रिया है) प्रोत्साहित करते हैं। इस तरह वे प्रतिरोध की, अलगाव की क्षमता विकसित करते हैं और धीरे-धीरे अलग-थलग पड़ जाते हैं। एकाग्रता का अर्थ है अपनी ऊर्जा को ब्लैकबोर्ड या किसी किताब पर केन्द्रित करना और मन को भटकने से बचाना। भटकाव से बचने की क्रिया एकाग्रता की ओर संकेत करती है। जबकि भटकाव जैसा कुछ नहीं है। है तो केवल प्रतिरोध जिसे आप एकाग्रता कहते हैं। एकाग्रता से अलग कोई भी क्रिया हो उसे आप भटकाव मानते हैं। इस तरह यहाँ द्वन्द्व, संघर्ष और प्रतिरोध की पृष्ठभूमि है। और यह प्रतिरोध अनिवार्य रूप से मस्तिष्क को सीमित करता है और यही हमारी संस्कारबद्धता है। संवेदनशीलता के साथ इस पूरी प्रक्रिया को देखने-महसूस करने का अर्थ है कि हम एक दूसरे क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं कि जो कि अवधान है।

अवधान का क्या अर्थ है? यदि हम वास्तव में संवेदनशीलता के अर्थ को, सजगता के अर्थ को और एकाग्रता की सीमितता के अर्थ को गहराई से

समझ लें— शाब्दिक या बौद्धिक तौर पर नहीं— तो हम अवधान के प्रश्न पर आ सकते हैं। अवधान में देखना और सुनना दोनों शामिल है। पहले हम 'सुनने' को लेते हैं। सुनने का अर्थ केवल कान से सुन लेना भर नहीं है बल्कि ध्वनियों, स्वरों और शब्दों के निहितार्थ के प्रति संवेदनशील होना भी है; सुनने का अर्थ है बिना प्रतिरोध के सुनना और ध्वनि की गहराई को तत्क्षण पकड़ना। ध्वनि हमारे जीवन में बड़ी अहम भूमिका निभाती है— मेघों के गरजने की ध्वनि, सुदूर से आती हुई बाँसुरी की ध्वनि, न सुनाई देने वाली ब्रह्माण्ड की ध्वनि, मौन की ध्वनि, हृदय की धड़कनों की ध्वनि, चिड़िया और फुटपाथ पर चलते आदमी की ध्वनि, जलप्रपात की ध्वनि, और न जाने कितनी ध्वनियाँ हैं! ब्रह्माण्ड ध्वनि से भरा हुआ है। इस ध्वनि का अपना एक मौन है— और सारे प्राणी इस मौन की ध्वनि से जुड़े हुए हैं। अवधान का अर्थ है इस मौन को सुनना और इसके साथ चलना।

देखना एक बड़ा जटिल मामला है। हम देखते तो हैं पर लापरवाही से, बिना ध्यान दिए हम किसी भी चीज़ के सामने से यूँही गुज़र जाते हैं। एक पत्ती को भी पूरी तरह नहीं देखते— उसकी संरचना को, उसके आकार को, उसके हरे रंग और उसकी विविधता को— किसी की ओर भी हमारा ध्यान नहीं जाता। देखना क्या होता है? एक बादल को देखना जिसमें संसार का सारा प्रकाश है, पहाड़ी से नीचे गिरते हुए झरने को देखना, अपने मित्र को बिना किसी प्रतिरोध के संवेदनशीलता के साथ देखना और अपने-आप को बिना नकारे या सुविधापूर्वक स्वीकारे ज्यों-का-त्यों देखना, सम्पूर्ण के हिस्से के रूप में; ब्रह्माण्ड की निस्सीमता को देखना। तो यह सब है देखना, बिना स्व की छाया के।

यह देखना और सुनना ही अवधान है। और इस अवधान की कोई सीमा नहीं है, इसमें कोई प्रतिरोध नहीं है, इसलिए यह निस्सीम है। अवधान इस विशाल ऊर्जा को दर्शाता है, यह किसी बिन्दु पर केन्द्रित नहीं होता। इसमें दोहराव की कोई गति नहीं है, इसलिए यह यांत्रिक नहीं है। अवधान को कैसे साधा जाए, यहाँ यह भी सवाल नहीं है। जब आप देखने और सुनने की कला सीख जाते हैं तो इस अवधान को आप किसी भी पन्ने पर या किसी भी शब्द पर केन्द्रित कर सकते हैं। तब इस क्रिया में कोई प्रतिरोध नहीं पैदा होगा जैसा कि एकाग्रता

में होता है। अनवधान को परिष्कृत कर अवधान में नहीं बदला जा सकता है। अनवधान के प्रति सजग होना ही उसका अन्त है। और जिस चीज़ का अन्त हो गया उसकी निरन्तरता वहीं समाप्त हो गई। अतीत का रूपान्तरण भविष्य में होता है, तो भविष्य अतीत की निरन्तरता है; और हम निरन्तरता में सुरक्षा की तलाश करते हैं, न कि अन्त होने में। तो अवधान में निरन्तरता का कोई गुण नहीं है। कोई भी चीज़ जो अतीत से गतिशील हो रही है वह यांत्रिक है। कुछ होना या बनना यांत्रिक है क्योंकि उसमें समय निहित है। अवधान में समय की गुणवत्ता नहीं है। यह सारा एक बेहद जटिल मुद्दा है। इसमें हमें बड़े आहिस्तापूर्वक गहराई से जाना चाहिए।

15 नवम्बर 1982

स्कूल-कॉलेज छोड़ने के साथ ही हमारी शिक्षा भी समाप्त हो जाती है, ऐसा हम सोचते हैं। हमें यह नहीं लगता कि पूरा मानव अस्तित्व ही आत्म-शिक्षण की एक प्रक्रिया है जो निरन्तर चलती रहती है और शायद ही कभी समाप्त होती है। इस तरह हममें से ज्यादातर लोग शिक्षा को एक बहुत छोटी अवधि में सीमित कर देते हैं और बाकी की ज़िन्दगी काफ़ी हद तक बेतरतीबी और भ्रम में बिताते हैं। इस दौरान हम केवल कुछ-ही चीज़ें सीखते हैं जो कि निहायत ज़रूरी होती हैं और एक रुटीन में बँध जाते हैं, मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए। वाक़ई में यही तो है हमारी ज़िन्दगी— शादी, बच्चे, काम, गुजरते सुख, दुख और मृत्यु। अगर यही हमारी ज़िन्दगी है— जो कि ज़ाहिर तौर पर है— तब वास्तव में शिक्षा का अर्थ ही क्या रह जाता है? हम इन बुनियादी सवालों को नहीं पूछते— शायद ये बड़े अशान्त करने वाले होते हैं। लेकिन कॉलेज, स्कूलों में शिक्षक होने के नाते हमें यह अवश्य पूछना चाहिए कि शिक्षा का और सीखने का उद्देश्य क्या है। यह ठीक है कि इससे हमें कोई काम मिल जाता है, कुछ ज़िम्मेदारियाँ हो जाती हैं लेकिन इन बाहरी व्यस्तताओं के अलावा शिक्षण कार्य और शिक्षक से हम क्या समझते हैं?

जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है कि एक शिक्षक कुछ विषयों का जानकार होता है जिनके बारे में वह अपने विद्यार्थियों को बताता है। लेकिन क्या इतना ही है एक शिक्षक होने का मतलब— केवल कुछ जानकारियाँ आगे बढ़ा देना? तो हम शिक्षक और विद्यार्थी होने के अर्थ की गहरी छानबीन कर रहे हैं। शिक्षक कौन है? पाठ्यक्रम के अलावा शिक्षण का क्या अर्थ है? समर्पित शिक्षक बहुत कम हैं। विद्यार्थियों की पढ़ाई में सहयोग के लिए वे समर्पित हो सकते हैं लेकिन शिक्षक होने का मतलब कहीं अधिक गहरा है।

ज्ञान अनिवार्य रूप से सतही होता है। स्मृति को विकसित करने और

उसे कुशलतापूर्वक कहीं इस्तेमाल करने की प्रक्रिया ज्ञान है। इसलिए ज्ञान अनिवार्य रूप से सतही और सीमित होगा ही। तो यह जानते हुए क्या शिक्षक का यही दायित्व रह जाता है कि वह विद्यार्थी को केवल उसी सीमित और सतही दायरे में आजीवन पड़े रहने में मदद करे? पहले हमें यह ज़रूर महसूस करना होगा कि ज्ञान हमेशा सीमित है जैसे कि सारे अनुभव सीमित हैं। ज्ञान को उसकी सीमाओं के साथ इस्तेमाल में लाना काफ़ी विध्वंसक हो सकता है। मानवीय सम्बन्धों में यह विध्वंसकारी है। सम्बन्धों में ज्ञान का अर्थ है बीती हुई तमाम घटनाओं, अनुभवों और प्रतिक्रियाओं का मन में संग्रह। यह संग्रह उस व्यक्ति की एक छवि हमारे भीतर बना देता है जिससे हम जुड़े हुए हैं। और इस तरह यह उस व्यक्ति की वास्तविकता और उसके साथ के सम्बन्ध को धूमिल कर देता है।

जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोई परम्परा चलती है जो अतीत में ज्ञान द्वारा निर्धारित होती है तो वह अतीत रूपी ज्ञान जीवित वर्तमान को ढक लेता है। अर्थात् जब ज्ञान एक नित्यक्रम और यांत्रिकता में बँध जाता है तो यह मस्तिष्क को सीमित, कठोर और असंवेदनशील बना देता है। जब ज्ञान का इस्तेमाल युद्धों के द्वारा राष्ट्रभावना के समर्थन के लिए किया जाता है तो यह भयानक रूप से पाशविक, क्रूर और अनैतिक हो जाता है। ज्ञान सौन्दर्य नहीं है लेकिन एक कुँआ खोदने के लिए यह ज़रूरी है। पूरा तकनीकी जगत ज्ञान पर आधारित है जो हमारे जीवन पर हावी हो रहा है। यदि हम ज्ञान को सर्वोपरि बनाकर उन्नति की आशा कर रहे हैं तो हम एक प्राणघातक भ्रान्ति में जी रहे हैं। हमारे कहने का बस इतना ही अर्थ है कि दैनिक जीवन में ज्ञान का एक अपना स्थान है लेकिन अगर जीवन में यही सब-कुछ होने जा रहा है तो हमारा जीवन महज़ यान्त्रिक क्रियाकलाप तक सिमट कर रह जाएगा।

क्या शिक्षक का कर्त्तव्य सिर्फ़ इतना है कि वह कुछ जानकारियों, सूचनाओं, विचारों, सिद्धान्तों को आगे बढ़ा दे और इनके विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करता रहे— जैसा कि आज हो रहा है? क्या शिक्षक का काम केवल यही है? अगर यही है तो वह एक जीते-जागते कम्प्यूटर के सिवा कुछ नहीं है। लेकिन नहीं, निश्चित रूप से शिक्षक की कहीं बड़ी ज़िम्मेदारी है। उसे अवश्य ही इन सारी

चीज़ों से सरोकार होना चाहिए, जैसे मनुष्य के व्यवहार से, उसके कार्य करने की जटिलताओं से, और एक ऐसे जीवन से जिसमें अच्छाई के बीज हों। निश्चित रूप से बच्चों के भविष्य से भी उसे सरोकार रखना होगा। और बच्चों का भविष्य क्या है? मनुष्य का भविष्य क्या है? हमारी चेतना का क्या भविष्य है जो कि इतनी भ्रान्त, अशान्त, अस्तव्यस्त और द्वन्द्व में है? क्या हमें लगातार द्वन्द्व, दुख और पीड़ा में ही जीना होगा? यदि शिक्षक बच्चों के साथ इन सारे बिन्दुओं पर संवाद की स्थिति में नहीं है तो वह जीती-जागती एक कुशल मशीन भर है जो और मशीनों को चलाती है।

तो हम एक बहुत-ही मौलिक प्रश्न पूछ रहे हैं कि शिक्षक क्या है? विश्व का यह सबसे महान पेशा है, हालांकि सबसे कम सम्मानित। क्योंकि शिक्षक अगर बहुत गहराई और गम्भीरता से बच्चों से जुड़ा हुआ महसूस करता है तो वह मानव मस्तिष्क को, अर्थात् उनके और अपने मस्तिष्क को, प्रतिबन्धन से मुक्त करने का कार्य करेगा। वे दोनों ही प्रतिबन्धन में हैं, यह एक तथ्य है चाहे वह इसे स्वीकार करे या न करे। इसलिए विद्यार्थी के साथ अपने सम्बन्ध के दौरान वह चेतना को सीमाओं-बन्धनों से मुक्त करने में अपनी और विद्यार्थी दोनों की मदद करेगा।

सम्बन्ध सीखने की प्रक्रिया है। और सम्बन्ध एक ठहरा हुआ मामला नहीं है बल्कि यह एक जीती-जागती गति है जो कभी एक-समान नहीं रहती। जो यह कल थी, आज नहीं है। जब अतीत सम्बन्धों पर हावी होता है तो सम्बन्ध अतीत का होता है न कि आज का, तब सम्बन्ध एक जीवन्त वस्तु नहीं रह जाती। प्रेम वह नहीं है जो यह कल था। जब शिक्षक और विद्यार्थी के सम्बन्धों में सख्यभाव और विनम्रता के तत्त्व होते हैं तथा एक-दूसरे को संस्कारबद्ध होने से बचाने की समझ होती है तो संवेदनशीलता और प्रेम स्वाभाविक हो जाते हैं। शिक्षक कह सकते हैं कि यह सब असम्भव है। जब स्कूल के अधिकारी यह कहेंगे कि एक क्लास में हर तरह की जड़बुद्धि वाले पचास बच्चे होंगे तो एक शिक्षक क्या कर सकता है? स्पष्ट है कि वह कुछ नहीं कर सकता। लेकिन हम उन स्कूलों की बात कर रहे हैं जहाँ यह सब नहीं है। वहाँ शिक्षक ऐसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और मानवता के खिलने में गहराई से मदद कर सकते हैं।

1 दिसम्बर 1982

ऐसा लगता है बहुत कम शिक्षकों को अपनी महती ज़िम्मेदारी का आभास है। उनकी यह ज़िम्मेदारी केवल अभिभावकों के प्रति नहीं है बल्कि विद्यार्थियों के साथ उनके सम्बन्धों के प्रति भी है। यह सम्बन्ध कैसा है? किस प्रकार इसको हम देखते हैं? क्या यह सूचनाओं-जानकारियों का आदान-प्रदान भर है? क्या यह कुछ तथ्यों का मौखिक संप्रेषण भर है? और क्या यह सम्बन्ध सिर्फ़ सतही है, आकस्मिक और अस्थायी है? क्या शिक्षक एक उदाहरण है? क्या शिक्षक बनकर मैं विद्यार्थियों पर प्रभाव डालना चाहता हूँ? यदि मैं एक उदाहरण हूँ जिसे कुछ विद्यार्थियों को आदर्श बनाना चाहिए तो मैं एक तानाशाह हूँ। तब अनुशासन एक नकल भर बन जाता है। वे मेरी, मेरे तौर-तरीकों और हावभावों की नकल करने लगते हैं। पर मैं नहीं चाहता कि वे मेरा अनुकरण करें और उन पर मेरा प्रभाव हो। मैं चाहता हूँ कि वे समझें कि कैसे हम सब लोग प्रभावित हैं, किस तरह से आदर्श या नमूनों का अनुकरण करने के लिए हम बाध्य हैं। मैं यह महसूस करता हूँ कि विद्यार्थियों को अच्छे या बुरे सभी प्रकार के प्रभावों से मुक्त करने में मदद की जाए ताकि वे स्वयं यह देख सकें कि सही कर्म क्या है। मुझे उन्हें यह नहीं बताना है कि सही कर्म क्या है बल्कि उनमें स्वयं मिथ्या और सत्य को देखने की सहज प्रेरणा और क्षमता विकसित होने देना है। अर्थात् मेरा सरोकार उनकी प्रज्ञा के विकास से है जिससे कि वे जीवन का और उसकी तमाम जटिलताओं का प्रज्ञापूर्वक सामना कर सकें। मैं इसे एक लक्ष्य की तरह नहीं देख रहा हूँ बल्कि एक प्रत्यक्ष वास्तविकता के रूप में देख रहा हूँ। मुझे पता है वे अपने माता-पिता से, अपने सहपाठियों और अपने चारों तरफ़ के संसार से प्रभावित हैं। युवा लोग तो आसानी से प्रभावित हो जाते हैं। वे विद्रोह भी करते हैं लेकिन चेतन या अचेतन रूप से उन पर एक दबाव बना रहता है और वह दबाव तनाव पैदा करता है। तो मैं एक शिक्षक और मानव होने के नाते

अपने-आप से पूछता हूँ कि किस तरह मैं उस प्रज्ञा की गुणवत्ता और ऊर्जा को ला सकता हूँ?

मैं यह देखना शुरू करता हूँ कि कर्म की दुनिया में मुझे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों होना है; आन्तरिक रूप से मुझे स्व-केन्द्रित नहीं होना है— मुझे अपनी आँखों को और कानों को जीवन की सूक्ष्मताओं के प्रति खोले रखना है। जिसका अर्थ है कि मुझे इस क़ाबिल होना है कि उदारता की रक्षा के साथ उसका संवर्धन भी कर सकूँ, अर्थात् ग्रहणकर्ता के साथ पोषक भी रहूँ। यदि मैं सच्चे अर्थों में एक समर्पित शिक्षक हूँ तो मैं इस सबके लिए महसूस करूँगा। मेरे लिए यह एक पेशा भर नहीं है— यह कुछ ऐसा है जिसे किया ही जाना चाहिए। इसलिए मैं दुनिया और उसकी घटनाओं को लेकर काफ़ी अधिक सजग रहता हूँ और भीतर से इस बात की ज़रूरत को समझता हूँ कि स्व-केन्द्रित मानसिकता से परे जाया जाए। मैं इस सारी भीतरी और बाहरी गति को एक सम्पूर्ण गति के रूप में देखता हूँ जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता, उसी तरह जैसे सागर का पानी आता और जाता है, लेकिन रहता एक ही है। अब मेरा प्रश्न है— मैं कैसे अपने विद्यार्थी की इस सबके प्रति सजग होने में मदद करूँ?

संवेदनशील होने का अर्थ है कोमल होना अर्थात् सुभेद्य होना। हम अपनी प्रतिक्रियाओं, मानसिक आघातों तथा परेशानियों से घिरी ज़िन्दगी के प्रति संवेदनशील होते हैं, जिसका अर्थ यही है कि हम अपने प्रति संवेदनशील होते हैं। और ऐसी अवस्था में स्व-हित की भावना तो होती ही है, और इसीलिए हम आहत और मानसिक रूप से रुग्ण होने की हालत में भी होते हैं। यह प्रतिरोध का ही एक रूप है जो मूलतः स्वार्थ पर केन्द्रित है। जबकि कोमलता की शक्ति स्व-केन्द्रित नहीं होती। यह वसन्त की कोमल पत्ती के समान होती है जो तूफ़ानी हवाओं को झेलते हुए भी विकसित होती है। चाहे कैसी-भी परिस्थिति हो, इस कोमलता में आहत नहीं हुआ जा सकता। इस कोमलता में स्व का कोई केन्द्र नहीं होता। इसमें एक अनूठी शक्ति, जीवन्तता और सौन्दर्य होता है।

एक मानव के नाते और एक शिक्षक के नाते मैं यह सब काफ़ी स्पष्टता

से अपने अन्दर देखता हूँ। लेकिन एक शिक्षक के रूप में मैं ऐसा नहीं हूँ। मैं इसका अध्ययन कर रहा हूँ, सीख रहा हूँ। शिक्षक के रूप में विद्यार्थी के साथ मेरा एक सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध में मैं सीख रहा हूँ। मैं कैसे अपने विद्यार्थियों तक यह सब पहुँचाऊँ जो कि संस्कारबद्ध और विचारहीन हैं, और जो सामान्य बच्चों की तरह शैतानी से भरे हुए हैं? मैं हैरानी में हूँ कि कैसे मैं गणित, जीव विज्ञान, और भौतिकी पढ़ाते हुए यह सब उन तक पहुँचा सकता हूँ? अथवा ये सब चीज़ें अलग हैं जिन्हें केवल रटा जाना है? जबकि दूसरी चीज़ को मैं स्मृति की प्रक्रिया के रूप में नहीं देखता, इसलिए मेरे पास यह समस्या है—एक तरफ़ तो है इतिहास और तरह-तरह के विषयों का स्मृति में पोषण जिससे परीक्षाएँ पास की जा सकें और अन्ततः कोई काम मिल जाए , और दूसरी तरफ़ है प्रज्ञा जिसके बारे में मुझे ऐसा आभास है कि वह यांत्रिक नहीं है, स्मृति की पैदाइश नहीं है। यह है मेरी समस्या। और मैं अपने-आप से पूछ रहा हूँ कि क्या ये दो अलग-अलग चीज़ें हैं? अथवा प्रज्ञा, यदि वह जीवन के शुरुआत में ही जगा दी जाती है, स्मृति को भी शामिल कर सकती है और इसकी ग़ुलाम भी नहीं बनती है? बड़ी वस्तु छोटी वस्तु को अपने अन्दर समेट लेती है। ब्रह्माण्ड में हर वस्तु शामिल है। लेकिन हर वस्तु स्वयं अपने संकीर्ण दायरे में नहीं टिकी रह सकती।

मैं इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु को गहराई से समझना शुरू कर रहा हूँ क्योंकि मैं एक समर्पित शिक्षक हूँ जो शिक्षण का प्रयोग कहीं और पहुँचने के लिए सोपान के रूप में कर रहा है। तो मैं दुविधा में हूँ कि अपने सामने बैठे इन बच्चों का क्या करूँ। इन लोगों की इस सब में रुचि नहीं है। ये लोग एक-दूसरे को चिढ़ाने, प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या करने के लिए तैयार हैं। अब आप, जो कि बाहर से हैं, क्या मेरी समस्या को समझ रहे हैं? आपको इसे समझना पड़ेगा क्योंकि आप भी अपने तरीके से एक शिक्षक हैं—घर में, खेल के मैदान में या व्यवसाय में। हम सभी लोग किसी-न-किसी रूप में शिक्षक हैं—इसलिए मुझे अपनी समस्या के साथ अकेला मत छोड़ दीजिए क्योंकि यह आपकी भी समस्या है। तो आइये इस पर बातचीत करें।

मुझे उम्मीद है कि हम दोनों ही यह देखते हैं कि जिन बच्चों के प्रति

हम उत्तरदायी हैं उनमें इस प्रज्ञा को जगाना ही सबसे पहली और बड़ी ज़रूरत है। समस्या को हल करने के लिए मुझे अकेला मत छोड़िए—हम मिलकर इस पर बातचीत कर रहे हैं। सबसे पहले मुझे और आपको इस समस्या को गहराई से समझना है। थोड़ी देर के लिए बच्चों और विद्यार्थियों को अलग छोड़ दीजिए। क्या हम यह देखते हैं विद्यार्थी को आगे चलकर कोई न कोई काम करना होगा, इसलिए उसे संसार को, इसकी ज़रूरतों और इसकी अन्तर्निहित अव्यवस्था को, तथा इसके निरन्तर विनाश व पतन को गहराई से समझना होगा? उसे इस संसार का सामना एक विशिष्ट हस्ती के रूप में नहीं करना है— विशिष्टता संसार का सामना करने की क्षमता उसमें नहीं आने देती। तो इस सबका निहितार्थ यह है कि ज्ञान का अर्जन तो हो लेकिन उसका सावधानीपूर्वक अनुशासन भी हो। संसार जब तक ऐसा रहेगा, जैसा कि यह आज है, तब तक मनुष्य एक ख़ास दिशा में कार्य करने के लिए विवश होगा और अधिकांश समय इसी में फँसा रहेगा, शायद दिन के आठ-दस घंटे। साथ ही उसे सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक संसार का अध्ययन करना होगा जिसकी जाँच-पड़ताल अभी किसी के द्वारा नहीं हुई है। जिन्होंने थोड़ी-बहुत की भी है तो वे अपनी खोज के बारे में बताते हैं और यह ज्ञान बन जाता है जिसका विद्यार्थी केवल अनुकरण करते हैं। यह शुद्ध जाँच-पड़ताल नहीं है। तो मेरी और आपकी यह समस्या है। हो सकता है आपकी इसमें कम रुचि हो लेकिन एक शिक्षक के नाते मैं इससे वास्तव में जुड़ा हुआ हूँ। मैं स्वयं भी संस्कारबद्ध हूँ— मैं उस अर्थ में खुला हुआ, कोमल नहीं हूँ जैसा कि ऊपर कहा गया है। मेरे पास पारिवारिक समस्याएँ हैं, लेकिन मेरी निष्ठा इन सबको पीछे छोड़ देती है। मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं? क्या यह इस बात की माँग करता है कि कुछ नहीं किया जाए बल्कि और शिक्षकों के साथ मिलकर इस निष्ठा का वातावरण तैयार किया जाए? निष्ठा कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे बाद में लक्ष्य के रूप में हासिल किया जाए। निष्ठा सदा वर्तमान की क्रिया है जिसमें समय की कोई भूमिका नहीं है।

15 दिसम्बर 1982

किसी लक्ष्य को प्राप्त करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है हमारा अन्दरूनी सरोकार ('इंटेंट')। यह सरोकार महज़ एक बौद्धिक-सैद्धान्तिक निष्कर्ष भर नहीं होता बल्कि एक सक्रिय,जीवन्त वर्तमान होता है। यह एक ऐसी बाती होती है जो तेल से भरे दीये में जलती है पर उसे बुझाया नहीं जा सकता, कोई हवा उसे नहीं बुझा सकती। वह बाती काफ़ी मजबूत है और उसका तेल किसी बाहरी स्रोत पर निर्भर नहीं है। वह किसी कारण पर निर्भर नहीं है और इसलिए वह बाती, उसकी लौ और तेल कभी ख़त्म नहीं होते। एक समर्पित अध्यापक के नाते मेरा यह भीतरी सरोकार है और अभिवावक होने के नाते, पूरी मानवजाति होने के नाते आपका भी— अर्थात् हम सभी को इससे सरोकार है। अच्छे, प्रज्ञाशील, अत्यन्त क़ाबिल, और मुक्त मनुष्यों को लाना ही उस बाती की ज्वाला है। आप इस उद्देश्य से भाग नहीं सकते। आप इससे उतने ही जुड़े हैं जितना कि मैं। आप संकोचवश इससे दूर हट सकते हैं, इसकी अवहेलना और उपेक्षा कर सकते हैं, लेकिन इसके लिए आप उतने ही उत्तरदायी हैं जितना कि मैं। चूँकि भविष्य की ज़िम्मेदारी हम पर है इसलिए हमारी यह प्रत्यक्ष चुनौती है। मेरी और आपकी चुनौती है उस समग्र प्रज्ञा का विकास करना जिसमें से बाकी की सारी चीज़ें निकलती हैं। अपने अन्दर मैं इसे एक केन्द्रीय, मूलभूत मुद्दे के रूप में देख रहा हूँ, क्योंकि कोई भी प्रज्ञाशील व्यक्ति— उस अर्थ में जिसमें हम इस शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं— कभी भी किसी दूसरे व्यक्ति को जानबूझ कर आघात नहीं पहुँचाना चाहेगा। ऐसा व्यक्ति पूरी मानवजाति के साथ वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा वह अपने साथ करना चाहेगा, बिना इस भयानक विध्वंसक अलगाव के। एक धुँधले रूप में, भावुकता के तौर पर नहीं, मैं भी यह महसूस करता हूँ कि यह प्रज्ञा किसी भी तरह से व्यक्तिगत नहीं है, न यह मेरी है न आपकी। इसके तीव्र आकर्षण को, इसके सत्य को मैं महसूस कर सकता हूँ।

अब मैं किस रूप में अपने अन्दर और अपने विद्यार्थियों में इस प्रज्ञा का पोषण कर सकता हूँ? मैं शायद ग़लत शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूँ, क्योंकि पोषण विचार की गतिविधि की ओर, प्रयत्न और उपलब्धि की ओर इशारा करता है। तो धीरे-धीरे मैं यह महसूस करना शुरू करता हूँ कि प्रज्ञा विचार की क्रिया से पूरी तरह भिन्न चीज़ है। विचार का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रज्ञा विचार से कभी नहीं उपज सकती क्योंकि विचार सीमित है।

अब हमारे सामने यह चीज़ किसी धुँधली समझ के रूप में नहीं बल्कि एक उत्कट ज्वाला के रूप में है और मैं स्वयं से पूछता हूँ कि क्या इस ज्वाला की गुणवत्ता का आभास मैं अपने विद्यार्थियों को करा सकता हूँ? क्या मैं यह काम गणित, जीव विज्ञान या कोई और विषय पढ़ाते हुए कर सकता हूँ—यह जानते हुए कि विद्यार्थियों के दिमाग़ एक ख़ास साँचे में ढले हुए हैं, सीमित हैं, अनुकारी हैं? उदाहरण के लिए मैं गणित का अध्यापक हूँ। गणित एक व्यवस्था है, निस्सीम व्यवस्था। व्यवस्था प्रज्ञा है, पूरा ब्रह्माण्ड इसके अन्तर्गत है। व्यवस्था कोई ठहरी हुई चीज़ नहीं है, यह एक जीवन्त गति है। हमारा जीवन एक गति है लेकिन उसमें हम अव्यवस्था ले आये हैं। तो इस तरह, अपने विद्यार्थियों से मैं केवल गणित के ऊपर बात करने नहीं जा रहा हूँ बल्कि उनके और अपने जीवन की व्यवस्था को लेकर भी बात करने जा रहा हूँ। अव्यवस्था का निषेध व्यवस्था है। एक मनुष्य जो कि भ्रम, अव्यवस्था और अनिश्चय में है और व्यवस्था लाने का प्रयास कर रहा है तो वह इस क्रम में और अधिक अव्यवस्था पैदा कर लेगा। यह मैं बहुत साफ़-साफ़ देखता हूँ—इसलिए मैं उनकी मदद करने जा रहा हूँ और उनकी मदद करते हुए मैं अपनी भी मदद कर रहा हूँ। लेकिन इस व्यवस्था को आप वैसे नहीं ला सकते जैसे आप गणित के सवाल हल करते हैं, क्रमबद्ध तरीके से। तो पहली चीज़ जो गहराई से समझ लेने की है वह है कि विचार द्वारा व्यवस्था कभी नहीं लाई जा सकती—विचार चाहे जो कुछ कर ले, कानून या प्रशासन के माध्यम से, या जोर-जबरदस्ती से, वह व्यवस्था कभी नहीं ला सकता। गणित अव्यवस्था के अन्तर्गत आता ही नहीं। गणित मूल रूप में स्वयं व्यवस्था है। व्यवस्था विचार से स्वतन्त्र है, वह विचार पर निर्भर नहीं है। विचार से व्यवस्था आ ही नहीं सकती—विचार जितना इसका प्रयास

करेगा उतना ही वह और भ्रान्ति उत्पन्न करेगा। विचार के पास यह क्षमता तो है कि वह गणित की व्यवस्था को देख सके लेकिन उसके पास यह क्षमता नहीं है कि वह व्यवस्था को पैदा कर सके। किसी पहाड़ के वैभव और सौन्दर्य को देखा जा सकता है लेकिन यह जरूरी नहीं कि देखनेवाले के पास भी वह गरिमा, वैभव और सौन्दर्य हो।

अपने विद्यार्थियों तक मैं यह बात पहुँचा सकूँ उससे पहले मुझे स्वयं इस व्यवस्था-अव्यवस्था का भली प्रकार अध्ययन कर लेना है। किसी विषय पर एक किताब का अध्ययन करना और स्वयं का अध्ययन करना—उस स्वयं का जो अव्यवस्थित और भ्रमित है—ये दो बिल्कुल अलग चीज़ें हैं। किताब वाक्य-दर-वाक्य, अध्याय-दर-अध्याय होती हुई किसी निष्कर्ष पर पहुँचती है। किताब आपके सामने है और आप सालों-साल इसके विषय के अध्ययन में लगा सकते हैं। लेकिन मैं ऐसी किताब नहीं पढ़ रहा हूँ, मैं एक ऐसी किताब पढ़ रहा हूँ जिस पर छापेख़ाने के अक्षर नहीं हैं और जिसे किसी दूसरे की आँखों से नहीं पढ़ा जा सकता है। इसलिए मुझे यह पता लगाना है कि इसे कैसे पढ़ा जाए। आप भी मेरे साथ यह करने जा रहे हैं, इसलिए पीछे मत हटिए। अपनी रुचि के लिए तो मैं इसका अध्ययन कर ही रहा हूँ, साथ ही अपने विद्यार्थियों तक इसे पहुँचाने के लिए भी मैं ऐसा कर रहा हूँ। ऐसा नहीं है कि मैं सिर्फ़ अपने लिए ही इसका अध्ययन कर रहा हूँ। एक किताब और उसकी सामग्री तो बिल्कुल साफ़ और सुनिश्चित होती है—उसके शब्दों से कुछ विशेष अर्थों का संप्रेषण होता है। लेकिन उस बारीक, जीवन्त और परिवर्तनशील विषय का अध्ययन करना, दूसरे शब्दों में, अपने उस मस्तिष्क का अध्ययन करना जो अब तक अव्यवस्था, भ्रान्ति और भय में जीता आया है और अब भी जी रहा है, एक किताब के अध्ययन से कहीं अधिक कठिन है। इसके लिए ज़रूरी है तत्परता, प्रखरता और ऐसी ग़ति जो अपने पीछे कोई निशान नहीं छोड़ती हो। क्या मेरे पास ऐसा गुण है? इस प्रश्न को रखने के साथ मैं केवल प्रश्नकर्ता का ही अध्ययन नहीं कर रहा बल्कि प्रश्न के पीछे छिपे आशय का भी अध्ययन कर रहा हूँ।

इस प्रकार मैं इस पूरी प्रक्रिया का बेहद सावधानी से अध्ययन करता हूँ, बिना किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचे। यह सतत सतर्कता, जो किसी छाया तक

को बिना ध्यानपूर्वक अवलोकन के नहीं गुज़रने देती, मस्तिष्क को अर्थात् विचार की सम्पूर्ण गतिविधि को बिना मन्द किये शान्त कर देती है। मैं बीच में थोड़ा अवकाश लेता हूँ और फिर इसे पकड़ लेता हूँ। यह अवकाश उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि अवलोकन का नवीनीकरण। मैं उस प्रज्ञा की सुगन्ध को महसूस कर रहा हूँ, उसकी असाधारण सूक्ष्मता को पकड़ रहा हूँ और इस तरह मेरा पूरा शरीर और अधिक जीवन्त, सजग हो रहा है और उसमें एक अलग तरह की लय पैदा हो रही है। अपना वातावरण वह स्वयं तैयार कर रही है। अब मैं अपनी कक्षा को लेकर किसी पेड़ के नीचे या किसी कमरे में जा सकता हूँ जहाँ मुझे गणित या कुछ और विषय पढ़ाने होंगे। मुझे पता है कि बच्चों को इसकी परीक्षाएँ पास करनी हैं। पहले पाँच या दस मिनट मैं उनसे बात करता हूँ, उन्हें अच्छी तरह समझाता हूँ कि मैं क्या पढ़ता रहा हूँ और उनके लिए इसे पढ़ना कैसे सम्भव है। मैं उन्हें अध्ययन की कला के बारे में बताता हूँ। अपने गहन इरादे से उन्हें परिचित कराने में पूरी गंभीरता से मैं इच्छुक हूँ और मेरी गहनता के निकट सम्पर्क में वे आने लगे हैं। मैं उन्हें समझाता हूँ कि प्रज्ञा के इस प्रश्न तक मैं कैसे धीरे-धीरे पहुँचा हूँ। मैं उन्हें पेड़ की व्यवस्था और सुन्दरता के बारे में बताता हूँ जिसे विचार ने पैदा नहीं किया है। मैं उनसे आग्रह करता हूँ कि वे यह साफ़-साफ़ देखें कि प्रकृति को, आकाश को और जंगली जानवरों को विचार ने पैदा नहीं किया है—हालांकि विचार अपनी सुविधा या विनाश के लिए उनका इस्तेमाल कर सकता है। विचार ने अपने क्रियाकलाप से काफ़ी विध्वंस किया है। इसके अलावा उसने महान अस्थायी सौन्दर्य का भी निर्माण किया है।

हर अवसर का उपयोग करते हुए और बिना ख़ुद को और बच्चों को बोर किये, मैं हास्य-विनोद और गंभीरता के साथ इन चीज़ों की चर्चा करता हूँ। यही मेरा जीवन है, क्योंकि यह प्रज्ञा सर्वोपरि है। चूँकि व्यवस्था का कोई कारण नहीं है इसलिए वह सदा टिकने वाली है—जबकि अव्यवस्था का कारण है और जिस चीज़ का कारण है उसका अन्त भी है।

1 जनवरी 1983

यह आवश्यक नहीं है कि असन्तोष आपको प्रज्ञा तक ले ही जाए। हममें से अधिकतर लोगों के पास किसी-न-किसी प्रकार का असन्तोष रहता ही है और हम बहुत-सी चीज़ों से असन्तुष्ट रहते हैं। हमारे पास धन, पद और किसी प्रकार की प्रतिष्ठा हो सकती है लेकिन असन्तोष का यह कीड़ा हमेशा रहता है। जितना अधिक आपके पास यह होगा उतना ही आप और माँग करेंगे। सन्तोष कभी सन्तुष्ट नहीं होता। असन्तोष एक ज्वाला की तरह है, जितना भी इसमें आप होम करेंगे उतना ही कम होगा। यह अचरज की बात है कि सन्तोष कितनी आसानी से अपनी तात्कालिक परिपूर्णता ढूँढ़ लेता है और हम उसको पकड़े रखते हैं—जबकि यह जल्द ही मुरझा जाता है तथा और अधिक की माँग फिर से खड़ी हो जाती है। ऐसा लगता है कि यह एक सन्तुष्टि से दूसरी सन्तुष्टि के बीच कभी न ख़त्म होने वाला सिलसिला है, भौतिक और आन्तरिक दोनों दृष्टि से। 'और अधिक' असन्तोष की जड़ है। माप-तौल की ज्वाला या तो आपको तृप्ति, उदासीनता और उपेक्षा की तरफ़ ले जाती है, अथवा एक विस्तृत और गहरी छानबीन की तरफ़।

जाँच-पड़ताल का उद्देश्य सन्तुष्टि पाना नहीं होता। जाँच-पड़ताल स्वयं अपना स्रोत होती है जो कभी खाली नहीं होती। यह एक पानी के चश्मे की तरह है जो किसी भी प्रकार के सन्तोष से अपने को भुला नहीं सकती। इस ज्वाला को किसी भी बाहरी और भीतरी उपलब्धि से दबाया नहीं जा सकता। हममें से अधिकांश के पास एक छोटी-सी ज्वाला होती है जो किन्हीं लाभकारी गतिविधियों द्वारा बुझा दी जाती है। इसलिए इस छोटी-सी ज्वाला को तीव्रता से जलने देने के लिए 'और अधिक' के पैमाने को पूरी तरह समाप्त करना होगा। और केवल तभी इस ज्वाला में सन्तुष्टि के सारे भाव जलकर राख हो सकेंगे।

शिक्षक के रूप में मैं एक दूसरी समस्या से भी जुड़ा हूँ। मेरे पास ऐसा कोई विद्यालय नहीं हो सकता जो हर तरह से मेरे लिए हो। विद्यालय में मेरे और भी सहकर्मी होंगे। कुछ बहुत-ही प्रतिभाशाली होंगे— ध्यान रहे मैं किसी संरक्षण की भावना से ऐसा नहीं कह रहा— तथा कुछ अलग-अलग तरह से मन्द होंगे। हालांकि सभी, जैसा कि कहा जाता है, अच्छे पढ़े-लिखे होंगे, उनके पास डिग्रियाँ होंगी इत्यादि। और सम्भवत: हममें से एक-दो लोग ऐसे होंगे जो प्रज्ञाशील होने में विद्यार्थियों की मदद करना चाहेंगे, लेकिन उन्हें ऐसा महसूस होगा कि जब तक सभी शिक्षक इस दिशा में क्रियाशील नहीं होते तब तक यह काम मुश्किल है और वे शिक्षक जिनका इस सबसे सरोकार नहीं है स्वाभाविक है कि अवरोध की तरह काम करेंगे। यही है हममें से कुछ लोगों की समस्या। शैक्षिक संस्थाओं में प्राय: यही होता है। तो मेरी समस्या यह है कि कैसे हम कुछ लोग बाकी लोगों से निपटें? मैं फिर यहाँ दोहराना चाहूँगा कि यह सब किसी संरक्षण की भावना से नहीं कहा जा रहा है। तो हमारे पास उनके लिए क्या जवाब है? यह एक चुनौती है जिसका सामना जीवन के हर स्तर पर करना पड़ेगा। थोड़े और अधिक लोगों के बीच का विभाजन सभी प्रकार की सत्ताओं में मौजूद है। थोड़ों का सरोकार पूरी जनसंख्या से हो सकता है और उन अधिसंख्य लोगों का सिर्फ़ अपने छोटे-छोटे हितों से। ऐसा पूरी दुनिया में हो रहा है और शिक्षा के क्षेत्र में भी। तो हम कैसे उन लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करें जो प्रज्ञा और अच्छाई के प्रस्फुटन के लिए पूरी तरह से समर्पित नहीं हैं? अथवा समस्या पूरी एक है कि कैसे एक सम्पूर्ण विद्यालय में इस ज्वाला को प्रज्वलित किया जाए?

यह बिल्कुल सही है कि सत्तात्मक रवैया प्रज्ञा का विनाश कर देता है। आज्ञापालन की भावना केवल भय पैदा करती है और भय अनिवार्य रूप से प्रज्ञा की वास्तविक प्रकृति की समझ को पीछे खींच लेता है। तो एक विद्यालय में सत्ता ('ऑथॉरिटी') की क्या भूमिका है? हमें सत्ता का अध्ययन करना चाहिए, इसे केवल नकार नहीं देना चाहिए, यह कहकर कि केवल स्वतन्त्रता होनी चाहिए और कुछ नहीं। हमें सत्ता का अध्ययन उसी प्रकार करना चाहिए जैसे हम परमाणु का करते हैं। परमाणु की संरचना एक व्यवस्था के अन्तर्गत है। आज्ञापालन, अनुकरण, सत्ता का स्वीकार, चाहे वह आँख मूँदकर हो या खोल कर, यह सब निश्चित रूप से अव्यवस्था लाते हैं।

आज्ञापालन का मूल क्या है जिससे कि सत्ता का जन्म होता है? जब व्यक्ति अव्यवस्था और भ्रान्ति में होता है तो समाज बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाता है। और उसी अव्यवस्था में से सत्ता का जन्म होता है, जैसा कि इतिहास में प्रायः होता आया है। क्या सत्ता को स्वीकार करने के पीछे भय है, दुविधा और अनिश्चितता है? जब ऐसी स्थिति होती है तो मनुष्य ऐसी कोई सत्ता खड़ी करने में लग जाता है जो उसका मार्गदर्शन कर सके। ऐसा सभी धर्मों, सम्प्रदायों और समुदायों में होता आया है। यह गुरु और शिष्य की कभी न ख़त्म होने वाली समस्या है—दोनों ही एक-दूसरे के विनाश की दिशा में अग्रसर हैं। अनुयायी ही आगे चलकर गुरु बन जाता है और यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

सत्ता के पीछे मूल कारण क्या है, इसका हम मिलकर अध्ययन कर रह हैं—अध्ययन का जो गहरा अर्थ है उस अर्थ में। अगर हममें से हर कोई यह देख लेता है कि इसके कारण में भय, मस्तिष्क का डाँवा-डोल, भ्रम में होना है अथवा कोई और गहरा कारण है तब हमारे इस साथ-साथ अध्ययन करने का अर्थ है; फिर चाहे यह अध्ययन शाब्दिक हो या ग़ैर-शाब्दिक। अध्ययन में विचार का आदान-प्रदान भी हो सकता है और साथ ही सत्ता के मूल का मौन निरीक्षण भी। तब वही अध्ययन प्रज्ञा को जागृत करता है क्योंकि प्रज्ञा में सत्ता का कोई स्थान नहीं होता। यह आपकी या मेरी प्रज्ञा नहीं होती। हममें से कुछ लोग इसे गहराई से देख सकते हैं, बिना किसी भ्रान्ति और धोखे के। और हमारा यह दायित्व है कि हम जहाँ भी हों—विद्यालय में, घर पर या नौकरशाही में—वहाँ प्रज्ञा की ज्वाला प्रज्वलित हो। इसका कोई नियत स्थान नहीं है, जहाँ भी आप हों वहाँ यह जल सकती है।

15 जनवरी 1983

हमारे मस्तिष्क बहुत पुराने हैं। अनगिनत अनुभवों, दुर्घटनाओं, मृत्यु आदि से गुज़रते हुए शताब्दियों से वे विकसित हो रहे हैं। तमाम तरह की क्षमताओं से युक्त, हमेशा सक्रिय, अपनी ही स्मृतियों और दुश्चिन्ताओं में जीते हुए, भय, अनिश्चितता और दुख से भरे हुए—ऐसे हैं हमारे मस्तिष्क। यह एक ऐसा चक्र है जिसमें मस्तिष्क सदा घूमता रहा है—गुज़रते हुए सुख और कभी न ख़त्म होने वाले उसके क्रियाकलाप। इस लम्बी प्रक्रिया में मस्तिष्क ने स्वयं को ढाल लिया है, जीवन का एक अपना ही तरीका तैयार कर लिया है, स्वयं को अपने ही वातावरण के अनुकूल बना लिया है, जैसा कि कुछ प्रजातियों में है—वहाँ नफ़रत और प्यार एक साथ हैं, वहाँ दूसरों को मारना और साथ-ही एक शान्तिमय ज़िन्दगी की तलाश भी जारी है। अतीत की अनन्त गतिविधियों ने मस्तिष्क को ढाला है, यह अपने को हमेशा बदलता रहा है, लेकिन इसकी मूल संरचना—सुख और दुख के रूप में—लगभग एक-सी रही है। यह संस्कारबद्ध मस्तिष्क बाहर की दुनिया को सँवारने का प्रयास करता है लेकिन भीतर से उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहता है, हमेशा मेरे-तेरे का विभाजन खड़ा करता हुआ, ख़ुद आहत होता हुआ और दूसरों को आहत करने का प्रयास करता हुआ। यह एक ऐसा जीवन-ढर्रा है जहाँ प्यार और सुख के क्षण आते-जाते रहते हैं।

मूल्यांकन—आधारित निष्कर्षों के बिना इस सबको देखने के लिए , और किसी गहरे और जीवन्त बदलाव के लिए यह आवश्यक है कि हमें अपने जीवन की जटिलता का निर्विकल्प बोध हो, अर्थात् जो है उसे हम यथार्थतः देखें। 'जो होना चाहिए' की अपेक्षा 'जो है' कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वजूद केवल 'जो है' का है, न कि 'जो होना चाहिए' का। 'जो है' को किसी और चीज़ में नहीं बदला जा सकता, उसका केवल अन्त हो सकता है। अन्त के परे क्या है, इसका महत्त्व उतना नहीं है जितना कि स्वयं अन्त का। परे की खोज में

लगने का अर्थ है 'जो है' से बचना और इस प्रकार भय का पोषण करना। जो नहीं है, अर्थात् वास्तविकता से परे का हम हमेशा पीछा करते रहते हैं। अगर हम यह देख सकें और 'जो है' के साथ रह सकें, भले वह कितना ही कष्टदायी, भयावह या सुखदायी हो, तो यह अवलोकन, जो कि विशुद्ध अवधान है, 'जो है' को मिटा देता है। हमारी एक कठिनाई यह है कि हम आगे बढ़ना चाहते हैं, और हम अपने से कहते हैं—'मैं यह समझ रहा हूँ, फिर क्या ? यह 'फिर क्या' 'जो है' से हटना है। 'जो है' विचार की गति है। यदि यह कष्टकारी है तो विचार इससे बचने का प्रयास करेगा और यदि यह सुखकारी है तो विचार इसे पकड़े रखना चाहेगा और इसकी अवधि को बढ़ाना चाहेगा। तो द्वन्द्व का एक पहलू यह भी है।

जो वास्तविक है केवल उसी का अस्तित्व है, न कि उसके विपरीत का। चूँकि मनोवैज्ञानिक रूप से विपरीत का अस्तित्व नहीं है इसलिए 'जो है' का अवलोकन द्वन्द्व से मुक्त है। लेकिन हमारे मस्तिष्क विपरीत की भ्रान्तियों से संस्कारित हैं। यह सही है कि विपरीत का अस्तित्व इस रूप में है जैसे प्रकाश-अँधकार, स्त्री-पुरुष, काला-गोरा, लम्बा-छोटा इत्यादि। पर हम यहाँ मनोवैज्ञानिक धरातल पर द्वन्द्व के अध्ययन की कोशिश कर रहे हैं। आदर्श द्वन्द्व पैदा करते हैं, और हम सदियों के आदर्शवाद से संस्कारित हैं—जैसे आदर्श अवस्था, आदर्श मानव, आदर्श देव, ईश्वर आदि। आदर्श और यथार्थ के इस विभाजन से द्वन्द्व पैदा होता है। इसके सत्य का दर्शन किसी निर्णयात्मक मूल्यांकन से नहीं होता।

इस पत्र में जो कहा गया है उसका मैंने सावधानीपूर्वक अध्ययन कर लिया है। इसकी तार्किकता, सहजबुद्धि को मैं समझ रहा हूँ, लेकिन अतीत का बोझ इतना भारी है कि पोषित भ्रान्तियों, 'जो होना चाहिए' के आदर्शों का व्यवधान सदा बीच में आ रहा है। मैं अपने आप से पूछता हूँ कि क्या इस भ्रान्ति को पूर्णतया निष्कासित किया जा सकता है, अथवा मुझे इसे एक भ्रान्ति के रूप में ही स्वीकार कर लेना चाहिए और इसे स्वयं मिटने देना चाहिए? मैं यह देखता हूँ कि जितना मैं इसके विरोध में संघर्ष करता हूँ उतना ही यह मज़बूत होती है; मैं यह भी देखता हूँ कि 'जो है' के साथ रहना बहुत कठिन है।

अब एक शिक्षक, अर्थात् अभिभावक और अध्यापक दोनों होते हुए क्या मैं द्वन्द्व की इस सूक्ष्म और जटिल समस्या को मनुष्यों तक संप्रेषित कर सकता हूँ? कितना अद्भुत होगा जीवन बिना द्वन्द्व और समस्या के। और जैसे ही कोई समस्या उठेगी—जिसका उठना अनिवार्य दिखता है—मैं उसके साथ जीने की बजाय उसे तुरन्त सुलझा लूँगा। शिक्षण की प्रक्रिया अब तक ऐसी रही है कि प्रतिस्पर्धा का पोषण हो और द्वन्द्व बना रहे। तो विद्यार्थी के प्रति अपने उत्तरदायित्व के साथ मैं एक-के-ऊपर-एक ढेरों समस्याएँ पाता हूँ। समस्याओं से घिरकर मैं एक अच्छे मानव की दृष्टि से वंचित होता जा रहा हूँ। मैं यहाँ 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग किसी आदर्श या भविष्य में प्रक्षेपित लक्ष्य के लिए नहीं कर रहा हूँ बल्कि अच्छाई और सौन्दर्य की सच्ची व गहरी वास्तविकता के लिए कर रहा हूँ। यह कोई लुभावना स्वप्न नहीं है, कोई ऐसी चीज़ जिसे हासिल किया जाए, बल्कि इसकी सत्यता का बोध ही मुक्ति का कारक है। यह बोध तार्किक, युक्तिसंगत और नितान्त विवेकपूर्ण है। भावुकता या रूमानियत का कोई भाव इसमें नहीं है।

'जो है' के सम्पूर्ण अंगीकार से अब मेरा सामना हो रहा है और मैं देख रहा हूँ कि मेरे विद्यार्थी यथार्थ से बचने के प्रयास में लगे हैं। तो यहाँ एक अन्तर्विरोध पैदा होता है और यदि मैं विद्यार्थियों के साथ अपने सम्बन्धों में सावधान और सतर्क नहीं हूँ तो हम दोनों के बीच संघर्ष पैदा होगा। मैं देखता हूँ लेकिन वे नहीं देखते, जो कि एक तथ्य है। देखने में मैं उनकी मदद करना चाहता हूँ। सत्य के बोध पर मेरा या किसी का अधिकार नहीं है, उनमें से प्रत्येक को सत्य का दर्शन करना है। किसी भी प्रकार का दबाव विकृति लाने वाला होगा, जैसे उदाहरण देना या स्वयं उदाहरण बनना—तो मुझे बड़े आहिस्ता से चलना होगा और उनकी रुचि को इस तरह जगाना होगा कि वे द्वन्द्व के अन्त की जाँच-पड़ताल में उतर सकें—भले ही यह सम्भव हो या न हो।

इसे समझने में, इसके अभिप्राय को ग्रहण करने में शायद मुझे एक हफ़्ता या अधिक लग जाए। हो सकता है मैं इसे हक़ीक़त में अभी नहीं जी पाऊँ लेकिन इसकी नाजुक और बारीक़ युक्ति को मैंने समझ लिया है और इसे मुझे अपने

हाथ से फ़िसलने नहीं देना है। यदि विद्यार्थी इसकी सुगन्ध को भी पा लेते हैं तो यह एक जीवित बीज की तरह उनमें रहेगा।

मैं यह पा रहा हूँ कि धीरता में समय के तत्त्व नहीं होते जबकि अधीरता समय की प्रकृति है। मैं किसी परिणाम या निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ। मैं इस सबमें बँध नहीं गया हूँ—और यहाँ एक नवजीवन की प्रक्रिया चल रही है।

1 फरवरी 1983

स्वतन्त्रता हमारे जीवन में बहुत आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि अपने मन-मुताबिक़ काम करते जाना स्वतन्त्रता नहीं है, हालांकि इसे स्वतन्त्रता माना जाता रहा है और यही हमारे जीने का ढंग रहा है। जब हमारी इच्छाओं को नकार दिया जाता है तो हमें निष्फलता और बाधा महसूस होती है। इससे हमारे भीतर रोष उत्पन्न होता है, और हम दबाव अनुभव करते हैं और एक सतत विद्रोह की भावना बनी रहती है। जीने का हमारा यह तरीका रहा है और यदि हम थोड़े भी विचारशील हैं तो हम यह देख सकते हैं कि संसार में इससे कितनी भयानक दुर्व्यवस्था आई है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मन के आवेगों को बिना किसी प्रतिबन्ध के पूरा करने के लिए प्रोत्साहित किया है—उनके अनुसार जो हमें पसन्द हो उसे तुरन्त कर लेना चाहिए; स्वयं के विकास के लिए यह आवश्यक है, ऐसी तर्कसंगत व्याख्या वे करते हैं। बाहरी प्रतिबन्ध के रहते हुए भी कई पीढ़ियों से वास्तव में यही चाह रही है। और अब वे बच्चे को अपनी मर्ज़ी के अनुसार छोड़ देने को स्वतन्त्रता कहते हैं। हो सकता है इसके बाद पहिया उल्टा घूमे तथा नियंत्रण, निषेध, अनुशासन और मनोवैज्ञानिक प्रतिबन्ध की बात हो। ऐसा लगता है कि मानवजाति की यही कहानी है।

इसके साथ ही कम्प्यूटर और रोबोट आ जाते हैं। इस दिशा में तकनीक का विकास काफ़ी तेज़ी से हो रहा है, इस उम्मीद के साथ कि वे एक ऐसा कम्प्यूटर बना लेंगे—और शायद बना भी लेंगे—जो मानव मस्तिष्क की क्षमता से युक्त होगा तथा अधिक तेज़ी, फुर्ती और शुद्धता के साथ सोच सकेगा और मनुष्य को घंटों के श्रम से मुक्ति मिल जाएगी। धीरे-धीरे कम्प्यूटर बच्चों की शिक्षा पर हावी भी होता जा रहा है। अत्यधिक पढ़े-लिखे शिक्षक और प्रोफ़ेसर अपने विषयों की जानकारी विद्यार्थियों तक बिना अपनी वास्तविक उपस्थिति के पहुँचा सकते हैं। इससे भी हमें कुछ स्वतन्त्रता हासिल होगी। टोटेलिटेरियन

(सर्वसत्तात्मक) राज्यों को छोड़कर बाकी सब जगह मनुष्य को काफ़ी स्वतन्त्रता हासिल होने जा रही है और इस तरह शायद उसे अपनी इच्छानुसार काम करने की छूट भी मिलेगी। लेकिन इसके साथ ही बड़ी मात्रा में द्वन्द्व, मुसीबत और युद्ध बढ़ भी सकते हैं। जब कम्प्यूटर और रोबोट हमारी रोज़ाना की ज़िन्दगी का हिस्सा बनकर हम पर हावी हो जायेंगे तब उस मानव मस्तिष्क का क्या होगा जो अब तक बाहरी संघर्षों में क्रियाशील रहा है? तब क्या मस्तिष्क कुछ ही घंटे काम करेगा और क्षीण होता जाएगा? जब सम्बन्ध मशीन और मशीन के बीच रह जायेंगे तब मस्तिष्क की गुणवत्ता और जीवन्तता का क्या होगा? क्या यह किसी प्रकार के मनोरंजन की, धार्मिक या किसी और रूप में, तलाश करेगा, अथवा अपने अस्तित्व की अनन्त गहराइयों की छानबीन का स्वयं को मौक़ा देगा? मनोरंजन उद्योग अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है और बहुत थोड़ी ऊर्जा और क्षमता को भीतर की ओर मुड़ने का मौक़ा मिल रहा है। इसलिए अगर हम सजग नहीं हैं तो मनोरंजन की दुनिया हम पर क़ाबिज़ होने जा रही है।

इसलिए हमें यह अवश्य पूछना चाहिए कि स्वतन्त्रता क्या है। यह अक्सर कहा जाता है कि कठोर अनुशासन और सभ्य नियन्त्रण के बाद स्वतन्त्रता आती है—यहाँ सभ्य का अर्थ साहित्य, कला, संग्रहालय और अच्छे भोजन से है। यह सभ्यता एक भ्रान्त और पतनशील मानव की बाहरी लीपा-पोती के सिवा कुछ नहीं है। क्या स्वतन्त्रता किसी मनोरंजन का चुनाव है? क्या स्वतन्त्रता में चुनाव ज़रा भी निहित है? हम हमेशा यह मानते आए हैं कि स्वतन्त्रता किसी चीज़ से होती है, जैसे ग़ुलामी से, चिन्ता से, निराशा, अकेलेपन आदि से। इस प्रकार की सोच हमें एक ऐसी अवस्था की ओर ले जाती है जहाँ दुख, तकलीफ़, घृणा, कुरूपता और अधिक मात्रा तथा परिमार्जित रूप में होते हैं। स्वतन्त्रता किसी धार्मिक या राजनीतिक नेता का चुनाव नहीं है जिसके पीछे आप चल सकें, बल्कि वहाँ तो साफ़ तौर पर स्वतन्त्रता का नकार है। स्वतन्त्रता ग़ुलामी का विपरीत नहीं है। स्वतन्त्रता का अर्थ है अन्त, अतीत की निरन्तरता का अन्त। स्वतन्त्रता का कोई विपरीत नहीं है।

इसे पढ़ चुकने और इसका अध्ययन कर लेने के बाद प्रश्न आता है कि हमारा विद्यार्थी, पत्नी और बच्चों के साथ ही नहीं बल्कि विश्व के साथ क्या सम्बन्ध है? स्वतन्त्रता की गहराई को वास्तव में समझने के लिए बड़ी मात्रा में प्रज्ञा और प्रेम की ज़रूरत है। लेकिन न तो संसार के क्रियाकलाप में कहीं प्रज्ञा दिखती है और न ही मेरे विद्यार्थियों में। अधिकांश समय मेरा उन्हीं के साथ बीतता है, लेकिन क्या मुझमें प्रज्ञा और प्रेम से युक्त स्वतन्त्रता की वह गुणवत्ता है? अगर मुझमें वह है तो मेरी समस्या बड़ी आसान हो जाती है। तब वह गुणवत्ता ही काम करती है और जिसे मैं समस्या मान बैठा था वह नहीं रहती। लेकिन वाकई में वह गुणवत्ता मेरे पास कहाँ है? मैं स्वाँग कर सकता हूँ, मित्रता का दिखावा कर सकता हूँ—पर यह सब बड़ा सतही होगा। मेरा उत्तरदायित्व तो अभी है, तुरन्त। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं तब तक इन्तज़ार करूँगा जब तक मैं स्वतन्त्रता, प्रेम और प्रज्ञा को नहीं पा लेता। मेरे पास हक़ीक़त में समय नहीं है क्योंकि बच्चे मेरे सामने बैठे हैं। मैं संन्यासी नहीं बन सकता, क्योंकि इससे किसी समस्या का हल नहीं होगा, न मेरी और न संसार की। अपनी जड़ता, संस्कारबद्धता को तोड़ने के लिए, प्रेम और स्वतन्त्रता को पाने के लिए क्या मुझे स्वर्ग से वज्रपात की ज़रूरत है? लेकिन सत्य यह है कि न तो वज्रपात है, और न स्वर्ग। हो सकता है मैं अपने-आप को एक गतिरोध तक ले आऊँ और निरुत्साह हो जाऊँ लेकिन यह समस्या से पलायन है—क्योंकि यह स्वयं को पूर्णतया बन्द कर लेना और हक़ीक़त का सामना करने में असमर्थ कर लेना है। यदि मैं वाक़ई इस सत्य को देखता हूँ कि इस मामले में, इस दुविधा में मेरी मदद करने के लिए कोई बाहरी सत्ता, आसरा, अनुकम्पा या प्रार्थना नहीं है, *तब* सम्भवतः मेरे पास एक अदूषित ऊर्जा होगी। और तब यह ऊर्जा ही स्वतन्त्रता और प्रेम होगी।

संसार के सारे लोगों ने, जिनमें से मैं भी एक हूँ, जिन मनोवैज्ञानिक चीज़ों को अपने चारों ओर निर्मित किया है, क्या उनको तोड़कर गिराने के लिए मेरे पास प्रज्ञा की ऊर्जा है? क्या इस सबसे होकर गुज़रने की दृढ़ता मेरे पास है? मैं ये सारे प्रश्न अपने-आप से पूछ रहा हूँ और अपने विद्यार्थियों के साथ इन्हीं

प्रश्नों को मैं बड़े सौम्य और उदार ढंग से पूछूँगा। मैं स्पष्ट रूप से इस सबके निहितार्थ को देखता हूँ तथा बड़े आहिस्ता से क़दम आगे रखता हूँ। वास्तविक समाधान तो प्रेम और प्रज्ञा में है। अगर आपके पास ये गुणवत्ताएँ हैं तो आपको यह हमेशा पता रहेगा कि आपको क्या करना है। हमें इसके सत्य को बहुत गहराई से महसूस करना है अन्यथा हम किसी-न-किसी रूप में मनुष्यों के बीच भ्रान्ति को सदा बनाए रखेंगे।

15 फरवरी 1983

प्रज्ञा न तो अनुशासन से आती है और न ही यह विचार का परिणाम होती है। जबकि विचार ज्ञान और अज्ञानता की उपज होता है। प्रेम के अभाव में अनुशासन नहीं आ सकता। विचार द्वारा लाये गए अनुशासन की हालांकि अपनी कुछ उपयोगिता होती है, किन्तु यह हमें अनुसरण की तरफ़ ले जाता है। सामान्यतौर पर अनुशासन का अभिप्राय अनुसरण से ही लगाया जाता है जिसका अर्थ है नकल करना और किसी विशेष ढाँचे के अनुरूप होना। जबकि वास्तव में अनुशासन का अर्थ है सीखना, न कि किसी मानक के आगे घुटने टेक देना। बचपन से ही हमें किसी-न-किसी धार्मिक या सामाजिक साँचे में ढल जाने के लिए शिक्षित किया जाता है। ऐसा अनुशासन पुरस्कार और दण्ड पर आधारित होता है। वैसे तो अनुशासन हर क्षेत्र में अन्तर्निहित है— गोल्फ या टेनिस का अच्छा खिलाड़ी बनने के लिए यह ज़रूरी है कि आप हर स्ट्रोक पर ध्यान देते हुए, तत्परता और सुचारुता से उसका जवाब दें। हर खेल की एक अन्तर्भूत सहज व्यवस्था होती है। ऐसी शिक्षाप्रद व्यवस्था अब हमारे जीवन से जा चुकी है और उसने भारी अव्यवस्था, निर्ममता, प्रतिस्पर्धा एवं सुखाकांक्षी सत्ता-लोलुपता का रूप ले लिया है।

क्या अनुशासन इस बात की ओर संकेत नहीं करता कि जीवन की उस समूची जटिल गति को समझा जाए जो समाज, व्यक्ति और व्यक्ति से परे भी स्पन्दित होती है? हमारा जीवन हिस्सों में बँटा रहता है और हम या तो हर हिस्से को अलग-अलग समझने का प्रयास करते हैं अथवा उन सबको जोड़ने का। यह सब देख लेने के बाद फिर मात्र कुछ अवधारणाओं और अनुशासन का आरोपण कुछ ज्यादा ही अर्थहीन लगने लगता है। लेकिन यह भी सही है कि यदि कोई नियन्त्रण न हो तो हममें से अधिकांश लोग स्वच्छन्दता की तरफ़ जाने लगते हैं। निश्चित रूप से वर्जनाएँ हमें नियन्त्रित रखती हैं, परम्परा के पालन के लिए हमें बाध्य करती हैं।

ऐसा महसूस होता है कि एक निश्चित व्यवस्था हमारे जीवन में अवश्य होनी चाहिए, और क्या ऐसा संभव है कि यह व्यवस्था बिना किसी दबाव, बाध्यता और अनिवार्यत: बिना किसी पुरस्कार या दण्ड के हमारे पास हो? सामाजिक व्यवस्था तो एक भीषण दुर्व्यवस्था है जहाँ अन्याय, अमीरी-गरीबी सभी कुछ है। हर समाज-सुधारक का प्रयास सामाजिक समानता लाने का रहा है किन्तु स्पष्ट रूप से उनमें से अभी तक कोई सफल नहीं हुआ है। सरकार बलपूर्वक कानून द्वारा, सूक्ष्म प्रचार द्वारा व्यवस्था आरोपित करने का प्रयास करती है। भले-ही ढक्कन रखकर हम सब कुछ ढक दें, लेकिन बर्तन के भीतर तो सब-कुछ उबलता रहता है।

इसलिए समस्या तक हमें भिन्न प्रकार से पहुँचना होगा। हमने हर तरीके अपनाए मनुष्य को सभ्य और विनम्र बनाने के लिए किन्तु उनमें से कोई भी अधिक कारगर साबित नहीं हुआ। युद्ध चाहे कैसा भी हो, तथाकथित पवित्र हो या राजनैतिक, वह हमारी बर्बरता को ही दर्शाता है। इसलिए घूम-फिरकर हमें उसी प्रश्न पर आना होगा— क्या ऐसी व्यवस्था संभव है जो किसी योजनाबद्ध सोच की परिणाम न हो? अनुशासन का अर्थ है सीखने की कला। हममें से अधिकांश के लिए सीखने का मतलब है स्मृतियों का संग्रह करना, बहुत सारी किताबें पढ़ना, और इस क़ाबिल हो जाना कि तमाम लेखकों को उद्धरित किया जा सके, शब्दों को एकत्र कर अपने या औरों के विचारों को लिखा, बोला या संप्रेषित किया जा सके। आपके अनुसार सीखने का मतलब है कुशलतापूर्वक काम कर सकना, एक इंजीनियर या वैज्ञानिक के रूप में, एक संगीतज्ञ या कारीगर के रूप में। इन सब चीज़ों में कोई भी पारंगत हो सकता है और इस तरह अधिकाधिक धन, सत्ता, प्रतिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। सामान्यतौर पर सीखना इसी रूप में स्वीकार किया जाता है—जानकारियों का संग्रह करना और फिर उसके अनुसार काम करना अथवा दूसरे रूप में, कुछ काम करके जानकारियाँ हासिल करना। दोनों ही समान बातें हैं। हमारी ऐसी ही परम्परा या प्रथा रही है और इसीलिए हम सदा ज्ञात के क्षेत्र में रहते और सीखते हैं। यहाँ हमारा संकेत किसी 'अज्ञात' की ओर नहीं है बल्कि इस बात की ओर है कि जो ज्ञात है उसकी गतिविधियों को गहराई से जाँचा-परखा जाए और उसकी सीमाओं, ख़तरों और अन्तहीन निरन्तरता को समझा जाए। मनुष्य की यही कहानी है।

हम युद्धों से सबक़ नहीं लेते, हम युद्धों को दोहराते हैं और इसी तरह बर्बरता और क्रूरता अपनी तमाम विकृतियों के साथ बरक़रार रहती है।

हम बस इतना ही क्या वास्तव में देख सकते हैं कि ज्ञान अत्यधिक सीमित है और हम जितना ही उसे बढ़ाते जा रहे हैं, उतने ही हम बर्बर होते जा रहे हैं? क्या हम ऐसी व्यवस्था का पता लगा सकते हैं जो न तो बाहर से आरोपित हो और न ही हमारे अपने भीतर से, क्योंकि दोनों-ही अनुसरण को, और इस प्रकार अन्तहीन द्वन्द्व को दर्शाते हैं? द्वन्द्व या संघर्ष ही अव्यवस्था है। इस सबका बोध अवधान है—न कि एकाग्रता—और अवधान प्रज्ञा एवं प्रेम का सार है। इससे सहज रूप में व्यवस्था आ जाती है जहाँ कोई दबाव नहीं होता।

अब, शिक्षकों एवं अभिभावकों के रूप में हमारे लिए क्या यह संभव है कि हम यह सब अपने विद्यार्थियों एवं बच्चों को समझा सकें? हो सकता है कि वे इतने छोटे हों कि इन बातों को नहीं समझ सकें। हमारे सामने ये सारी कठिनाइयाँ आती हैं और ये कठिनाइयाँ ही उस बड़े मुद्दे तक पहुँचने से हमें रोकती हैं। इसलिए मैं इसे एक समस्या नहीं बना रहा हूँ— मैं बस इस बात के प्रति सजग हूँ कि अव्यवस्था क्या है और व्यवस्था क्या है। इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है; किसी एक में से दूसरे की उत्पत्ति नहीं हुई है। और न ही यहाँ किसी एक को नकार कर दूसरे को स्वीकार करने की बात है। प्रत्यक्ष बोध में से ही सही और सम्यक् कर्म प्रस्फुटित होता है।

1 अक्टूबर 1983

हर सभ्यता में कुछ ऐसे लोग रहे हैं जो इस बात के लिए चिन्तित और गम्भीर थे कि अच्छे मनुष्यों का निर्माण हो—कुछ ऐसे मनुष्यों का जो पवित्र-पावन ढाँचों या सुधारों में न फँसे हों और जो दूसरे मनुष्यों को नुकसान न पहुँचाएँ तथा जिनका सरोकार सम्पूर्ण मानवीय जीवन से हो, और जो सज्जन, विनयशील और सच्चे अर्थों में धार्मिक हों। आज की आधुनिक सभ्यता में अ्च्छाई का पोषण शायद ही कहीं दिखता है। दिन-पर-दिन यह सभ्यता ज़्यादा ख़ूँख़ार और बर्बर हो रही है, छल-कपट और हिंसा से भर रही है। निस्संदेह शिक्षक होने के नाते हमारा यह काम है कि हम मन की एक ऐसी गुणवत्ता को पनपने दें जो बुनियादी तौर पर धार्मिक हो। धार्मिकता का मतलब यहाँ बेतुकी मान्यताओं, विश्वासों, रीति-रिवाजों से भरे किसी रूढ़िवादी धर्म से जुड़ना नहीं है। मनुष्य ने हमेशा किसी ऐसी चीज़ की तलाश की है जो दुख-कष्टों, चिन्ताओं और संघर्षों से भरे इस संसार से परे हो, और इस तलाश में ही उसने, शायद अनजाने ही, खोज निकाला भगवान और तरह-तरह के देवी-देवताओं को। और साथ में व्याख्याकार (समझाने वाले) भी आए, मनुष्य और उसकी खोज के बीच। ये सभी बड़े भारी विद्वान, प्रतिभा और ज्ञान से सम्पन्न लोग थे। इतिहास को उठाकर देखें तो बहुत प्राचीन समय से इन तीनों का साथ रहा है : ईश्वर, व्याख्याकार और मनुष्य। यही है वह वास्तविक त्रिमूर्ति जिसमें मनुष्य की आस्था बँधी रही है। यह संसार कठिनाइयों से भरा हुआ एक भारी बोझ की तरह रहा है और हर मनुष्य थोड़ी-बहुत सुविधा, सुरक्षा और शान्ति चाहता है। और इसके लिए वह उस बाहरी माध्यम पर आश्रित हो गया जिसे अब हम एक भ्रान्ति के रूप में पा रहे हैं। चूँकि मानवीय संघर्षों की सीमाओं के पार निकल पाना हमारे लिए संभव नहीं है इसलिए हम जंगलीपन की ओर मुड़ रहे हैं, और हम एक-दूसरे का बाहरी और भीतरी तौर पर विनाश कर रहे हैं।

क्या हम कुछ लोग मिलकर इन चीज़ों पर सोचना शुरू कर सकते हैं? और इस तरह स्वयं को उन तमाम धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त कर यह पता

लगा सकते हैं कि एक धार्मिक जीवन वास्तव में क्या है? इस तरह हम अच्छाई की पौध को उगने के लिए एक ज़मीन तैयार करेंगे। और अच्छाई बिना धार्मिक मन के हो नहीं सकती। धर्म की प्रकृति को समझने के लिए तीन चीज़ें आवश्यक हैं: अपरिग्रह ('ऑस्टेरिटी'), विनयशीलता ('ह्यूमिलिटी') और सतत जागरूकता ('डिलिजेंस')।

अपरिग्रह का मतलब यह नहीं है कि कठोर अनुशासन के द्वारा अपने पूरे जीवन को उदासीनता का रूप दे दिया जाए, और अपनी प्रत्येक मूल प्रवृत्ति, इच्छा और सौन्दर्य तक का दमन किया ज़ाए। पूर्वी देशों में यह सब देखने को मिलता है, गेरुए कपड़े, कोपीन इत्यादि के रूप में। पश्चिमी देशों में भी लोग ब्रह्मचर्य, पूर्ण आज्ञाकारिता का संकल्प ले रहे हैं और साधु-संन्यासी बन रहे हैं। लेकिन यहाँ पर जीवन की सादगी को सिर्फ़ बाहरी कपड़ों और एक प्रतिबन्धित एवं संकीर्ण जीवनचर्या तक सीमित कर दिया गया है, जबकि भीतर इच्छा-आकाँक्षा की ज्वाला निरन्तर जल रही है। इस ज्वाला के समाधान के लिए कई उपाय भी बताए जाते हैं, जैसे किसी अवधारणा, ग्रन्थ या प्रतिमा के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाना। इस तरह ग्रन्थ और प्रतिमाएँ सादा जीवन के प्रतीक बन जाते हैं। अपरिग्रह किसी आस्था पर टिके निष्कर्षों की बाहरी अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि यह तो हमारे भीतर की जटिलताओं, भ्रान्तियों और यन्त्रणाओं की गहरी समझ है। यह समझ शाब्दिक या बौद्धिक नहीं होती, बल्कि बहुत ही सतर्क, सजग और प्रत्यक्ष अनुभूति का परिणाम होती है। इस अनुभूति में वैचारिक जटिलताओं का कोई स्थान नहीं होता, यह एक प्रखर स्पष्टता होती है जिसमें अपरिग्रह का भाव स्वतः आ जाता है।

विनयशीलता दंभ का विपरीत भाव नहीं है, न ही इसका मतलब किसी सत्ता या ऊँचे पुरोहित के सामने सिर झुकाए रखना है, अथवा किसी गुरु या प्रतिमा के आगे समर्पित रहना। किसी काल्पनिक या भौतिक सत्ता के लिए स्वयं को पूर्णतया नकार देना या बलिदान कर देना भी यह नहीं है। इसका अहंकार से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। विनयशीलता तो तब होती है जब भीतरी तौर पर अधिकारवृत्ति का कोई भाव नहीं रह जाता है। विनयशीलता प्रेम और प्रज्ञा का सार है, यह कोई उपलब्धि नहीं है।

तीसरी चीज़ है सतत जागरूकता जिसका अर्थ है विचार को स्वयं अपनी

क्रियाओं, छल-कपटपूर्ण गतिविधियों और भ्रान्तियों के प्रति सजग रहना; यह वास्तविक और मिथ्या को पहचानने की विवेकशीलता है। मिथ्या की अवस्था वास्तविकता का नकार होती है, इसमें 'जो होना चाहिए' का प्रक्षेपण रहता है। सतत जागरूकता की अवस्था में हम उन प्रतिक्रियाओं के प्रति सजग रहते हैं जो बाहरी जगत और भीतरी प्रति-उत्तरों को लेकर होती हैं। यह आत्मकेन्द्रित सतर्कता नहीं है, बल्कि इसमें हम अपने हर तरह के सम्बन्धों को लेकर संवेदनशील हैं। इन सबके परे और ऊपर है प्रज्ञा और प्रेम। जब ये दोनों होते हैं तो बाक़ी की सारी चीज़ें स्वत: आ जाती हैं। यह एक तरह से सौन्दर्य के कपाटों का खुलना है।

अब एक शिक्षक और अभिभावक के नाते मैं अपने प्रश्न पर वापस आता हूँ। मेरे बच्चों और विद्यार्थियों को उस संसार का सामना करना है जहाँ प्रेम और प्रज्ञा को छोड़कर बाक़ी सब कुछ है। दोषदर्शिता की सनक से भरा यह वक्तव्य नहीं है बल्कि यह हक़ीक़त है, इसे छूकर सामने देखा जा सकता है। उन बच्चों को भ्रष्टाचार, निहायत बर्बरता और संवेदनहीनता का सामना करना है। वे डरे-सहमे हुए हैं। इस सबकी 'ज़िम्मेदारी' को समझते हुए (मैं इस शब्द का प्रयोग बड़ी सावधानी और गहरे अभिप्राय से कर रहा हूँ) हम उनकी किस तरह मदद कर सकते हैं? मैं यह प्रश्न किसी से पूछ नहीं रहा हूँ बल्कि अपने सामने रख रहा हूँ, ताकि सवाल करने के दौरान मैं स्पष्ट हो सकूँ। इस सवाल ने बहुत बड़ी समस्या मेरे सामने लाकर खड़ी कर दी है और मैं निश्चित रूप से कोई दिलासाजनक उत्तर भी नहीं चाहता। स्वयं से सवाल की प्रक्रिया में ही संवेदनशीलता और स्पष्टता मेरे भीतर आने लगती है। मैं बड़ी तीव्रता से उन बच्चों और विद्यार्थियों के भविष्य की चिन्ता महसूस करता हूँ और शब्दों (पाठ्यक्रम) आदि के साथ-साथ प्रेम और प्रज्ञा के इस्तेमाल में उनकी मदद करके मैं स्वयं अपने अन्दर ऊर्जा इकट्ठी करता हूँ। मेरे द्वारा इस तरह अगर एक लड़के या एक लड़की की भी मदद हो जाती है तो वह काफ़ी है; हर बड़ी-से-बड़ी नदी की शुरुआत बहुत ऊँचाई पर, सुदूर पर्वत के किसी एकान्त कोने में एक छोटी-सी धारा से होती है— लेकिन वही धारा विशालकाय नदी में कैसा आवेग ग्रहण कर लेती है! तो हमें बहुत थोड़े से ही शुरुआत कर देनी चाहिए।

15 अक्टूबर 1983

हम जैसे हैं वैसा ही यह संसार है। अपने परिवार में, समाज में हम जिस तरह रहते हैं वैसा ही यह संसार हमने बना दिया है, जहाँ बर्बरता, क्रूरता, पाशविकता, असभ्यता और एक-दूसरे का विनाश, सब कुछ है। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक तौर पर भी एक-दूसरे का विनाश करते हैं, अपनी इच्छाओं और सन्तुष्टियों के लिए एक-दूसरे का शोषण करते हैं। हम यह कभी नहीं महसूस करते कि जब तक हमारे भीतर बुनियादी बदलाव नहीं आता, तब तक यह मारकाट, खूनखराबा और विध्वंस ऐसे ही हजारों-हजार साल तक चलता रहेगा। क्योंकि जब तक हमारा ख़ुद का घर ही क़ायदे से और ठीक-ठाक नहीं होगा तो हमारा समाज और हमारे आपसी रिश्ते भी कहाँ से ठीक होंगे? यह इतनी सीधी-सी बात है कि हम इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते। यह सीधी-सी बात ही हमें बहुत मुश्किल लगती है और हम चीज़ों को जस-का-तस स्वीकारते जाते हैं, कभी सवाल नहीं करते, उन्हें यूँही ढोते जाते हैं। यही कारण है कि हम एक औसत दर्जे के मामूली इन्सान बने रहते हैं जिनमें परिवर्तन की कोई वास्तविक चाह नहीं होती, जिन्हें अपने आस-पास के समूचे जीवन से कोई सरोकार नहीं होता— इसके बाद अगर हम महान कवि, चित्रकार, संगीतकार या साहित्यकार कोई भी हों, समाज में हमारी चाहे जितनी प्रतिष्ठा हो लेकिन उस सबका क्या मतलब रह जाता है? हमारा समाज तो वहीं-का-वहीं रहता है। हो सकता है इस तरह हम समाज की दुर्दशा और दुर्गति में और मदद ही कर रहे हों। क्योंकि हम सभी अपनी छोटी-मोटी प्रतिभा को जगजाहिर करना चाहते हैं, हमें सिर्फ़ अपने-आप से, अपनी नेकनामी से मतलब है— और इस तरह हम अपनी धुन में बाक़ी सबको नकार देते हैं, मनुष्य की पीड़ाओं, दुख-कष्टों से अपना नाता तोड़ लेते हैं। और यह हमें स्वीकार्य भी होता है क्योंकि यह जीवन का सामान्य ढर्रा बन जाता है। वस्तुतः हम कभी समाज की प्रचलित एवं स्वीकृत धारा से अलग नहीं होते। हमें लगता है कि हम उस धारा से बाहर रह पाने में असमर्थ हैं और हमें इसका भय भी रहता है कि कहीं हम उस धारा से अलग-थलग न पड़ जाएँ।

इसी तरह, माता-पिता और शिक्षक जैसे होंगे वैसा ही उनका घर-परिवार और विद्यालय होगा। मामूली और औसत दर्जे के लोग वे होते हैं जो आधे रास्ते में ही रुक जाते हैं, कभी पहाड़ की चोटी तक नहीं पहुँचते। हम बाकी सब लोगों की तरह ही होना चाहते हैं और यदि हम थोड़ा-सा अलग होना भी चाहते हैं तो इसे सावधानी से छुपा कर रखते हैं। हम यहाँ झक्कीपने या सनक की बात नहीं कर रहे हैं, हालाँकि वह भी अपने को अभिव्यक्त करने का एक तरीका है, जिसे हर कोई अपने-अपने तरीकों से करता है। फिर भी आपके झक्कीपने को समाज तभी बर्दाश्त करता है जब आप अच्छी-ख़ासी हैसियतवाले अथवा प्रतिभासम्पन्न होते हैं— और अगर कहीं आप गरीब हैं, और आपकी हरकतें लीक से हटकर हैं तो आपको दबा दिया जाता है, उपेक्षित कर दिया जाता है। लेकिन हममें से कुछ ही प्रतिभासम्पन्न होते हैं; अन्यथा हम अपने-अपने पेशों से जुड़े कर्मचारी भर होते हैं।

हमारा संसार अधिक-से-अधिक छिछला होता जा रहा है। हमारी पढ़ाई-लिखाई, हमारे काम-धन्धे, हमारे रीति-रिवाज़ और धर्म, हमें औसत दर्जे से ऊपर नहीं उठने देते, हमें लगभग निष्प्राण और मुर्दा बना देते हैं। हमारा मतलब यहाँ रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से है, प्रतिभा या किसी हुनर के प्रदर्शन भर से नहीं है। ज़िन्दगी के इस घिसे-पिटे ढर्रे को क्या हम शिक्षक और माता-पिता मिलकर बदल सकते हैं? क्या यह हमारे भीतर गहरे छुपा अकेलेपन का भय है जो हमें आदतों के घेरे में डालता है— काम की आदत, विचार की आदत, चीज़ें जैसी हैं उनको वैसे ही स्वीकार कर लेने की आदत? हम अपने लिए जीवन का एक तरीका निर्धारित कर लेते हैं और स्वयं को उसका आदी बना लेते हैं। इस तरह हमारा दिमाग़ एक मशीन की तरह हो जाता है जो एक बँधे-बँधाए ढर्रे पर चलती है— ऐसी बँधी-बँधाई ज़िन्दगी औसत दर्जे की होती है, जिसमें कुछ भी नया, जीवन्त और रचनात्मक नहीं होता। पुरानी स्थापित परम्पराओं के अनुसार चलने वाले देश सामान्यत: औसत दर्जे के ही होते हैं।

इसलिए हम अपने-आप से पूछ रहे हैं कि इस यांत्रिक औसत दर्जे की ज़िन्दगी का सिलसिला किस तरह ख़त्म हो सकता है? सवाल इसका नहीं है कि इस ज़िन्दगी से बाहर कैसे निकला जाए बल्कि विचार की यांत्रिकता को देखने का है, यह देखने का है कि मनुष्य ने कैसे विचार को सम्पूर्ण महत्ता प्रदान

कर दी है। हमारी सारी गतिविधियाँ, चाहतें, अभिलाषाएँ और रिश्ते-नाते विचार पर आधारित हैं। विचार की प्रक्रिया सभी में सामान्य रूप से मौजूद है, चाहे वह अत्यन्त पढ़ा-लिखा हो या अशिक्षित। विचार न तो पूरब का होता है, न पश्चिम का; न यह ग़रीब का होता है, न अमीर का, और न यह आपका होता है और न मेरा। इसे समझना आवश्यक है। हमने विचार को व्यक्ति-विशेष से जोड़कर उसके दायरे को बहुत अधिक संकुचित और संकीर्ण कर दिया है। यह सही है कि विचार बुनियादी तौर पर संकुचित और सीमित होता है, लेकिन जब हम इस पर अपना अधिकार जताने लगते हैं तो यह और अधिक सतही हो जाता है। इस सत्य को जब हम देख लेते हैं तो आदर्शवादी विचारों और सामान्य दैनिक विचारों में प्रतिस्पर्धा नहीं होती। आदर्श ही जब सबसे महत्त्वपूर्ण हो जाता है और दैनिक जीवन हाशिए पर चला जाता है तो अलगाव पैदा होता है जो द्वन्द्व और संघर्ष के बीज बोता है। द्वन्द्व को एक औसत दर्जे का मनुष्य ही स्वीकार कर सकता है। राजनीतिक और गुरुडम के तख़्त पर बैठे लोग इस द्वन्द्व को खाद-पानी देते हैं जिससे यह हमेशा कायम रहे और इस तरह वे मनुष्य को औसत दर्जे से ऊपर नहीं उठने देते।

हम फिर बुनियादी मुद्दे पर आते हैं। आगे आने वाली पीढ़ी के लिए शिक्षकों और अभिभावकों की क्या जवाबदेही है? इन पत्रों में जो कुछ कहा जा रहा है उसकी तर्कपूर्णता और समझदारी को, हो सकता है,. आप ग्रहण भी कर लें, लेकिन सिर्फ़ दिमाग़ी समझ से तो काम नहीं चलेगा— इससे, मुमकिन है, वह प्राण शक्ति न मिले जो आपको औसत दर्जे की गैररचनात्मक ज़िन्दगी से बाहर निकाल सके। वह कौन-सी जीवन्त ऊर्जा है जो आपको अभी, बिल्कुल अभी सृजन से विहीन ज़िन्दगी से बाहर निकाल लाएगी? यह तो तय है कि यहाँ सतही अधीरता और भावनात्मक उत्साह से काम नहीं चलेगा, बल्कि यहाँ तो एक ऐसी ऊर्जा शक्ति काम करेगी जो अपनी लौ को हरदम, हर परिस्थिति में, कैसे भी हालात हों, जलाए रखेगी। वह कौन-सी ऊर्जा है जो अपने को हर बाहरी प्रभाव और दबाव से अछूता और बेअसर रखती है? अपने-आप से किया जाने वाला यह बहुत-ही महत्त्वपूर्ण सवाल है।

अब हमें इसकी मिलकर जाँच-पड़ताल करनी चाहिए। हम यह जानते

हैं कि हर आयाम की एक सीमा होती है और उस सीमा को एक बिन्दु पर जाकर ख़त्म होना ही पड़ता है। इसका अर्थ है कि जो भी चीज़ आयाम के घेरे में आती है उसका एक अन्त है। जिसे हम जानकारी या ज्ञान कहते हैं वह विचार में से उपजता है और विचार स्वयं किसी कारण में से निकलता है। जब हम कहते हैं कि हमने इसे समझ लिया तो इसका आमतौर पर मतलब होता है कि दिमाग़ी तौर पर, जो कहा जा रहा है उसके मायने को समझ लिया—लेकिन यह बुनियादी तौर पर समझना नहीं है; वास्तविक समझ वह होती है जिसमें हम अन्तर्मन की गहराई से जो सामने मौजूद है उसको देखते और महसूस करते हैं; यहाँ हम अपनी सारी ऊर्जा जो है उसे देखने में लगा देते हैं। इस देखने और महसूस करने में सारे भ्रम मिटने लगते हैं, जो है वह छँटने लगता है। प्रेम और प्रज्ञा के समान ही प्रत्यक्ष दर्शन की यह ऊर्जा किसी कारण पर आधारित नहीं होती है।

1 नवम्बर 1983

मुझे पूरा विश्वास है कि शिक्षकों को इस बात का आभास है कि दुनिया में वास्तव में क्या हो रहा है। लोग धर्म, जाति, राजनीति और अर्थ के नाम पर विभाजित हैं। यह विभाजन ही अलगाव और विखंडन है जिससे दुनिया में घोर अव्यवस्था फैल रही है; युद्ध, हिंसा, और हर तरह का छलकपट हो रहा है, मनुष्य मनुष्य के विरुद्ध खड़ा है। जिस दुनिया और समाज में हम रह रहे हैं उसकी यह असली तस्वीर है। और इस समाज का निर्माण हम सभी ने मिलकर किया है, अपनी-अपनी संस्कृति, भाषा और क्षेत्र के विभाजन के आधार पर। इस सबसे भ्रान्ति, घृणा, वैमनस्य, भाषाई अलगाव और अधिक बढ़ता जा रहा है। ऐसी हालत में शिक्षकों की वाक़ई में बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी हो जाती है। उनका सरोकार इन विद्यालयों में एक ऐसे मानव के आविर्भाव से हो जाता है जो वैश्विक सम्बन्ध का भाव रखता हो, जिसमें राष्ट्रीय-क्षेत्रीय अलगाव की भावना न हो, और जो वास्तव में मूल्यहीन, पुरानी, मृत परम्पराओं से मज़हबी तौर पर चिपका न हो। एक शिक्षक के नाते अपने विद्यार्थियों की शिक्षा को लेकर उसकी ज़िम्मेदारी अधिक-से-अधिक गम्भीर, प्रतिबद्ध और महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

यह शिक्षा वास्तव में कर क्या रही है? क्या यह वाक़ई मनुष्य और उसके बच्चों की इस तरह मदद कर रही है कि वे अधिक-से-अधिक ज़िम्मेदार, सौम्य और उदार बन सकें, तथा समाज के उस पुराने, बदसूरत और भद्दे ढाँचे की ओर न लौटें? यदि शिक्षक वास्तव में इस सबको लेकर चिंतित है, और उसे होना भी चाहिए, तब उसे यह पता लगाने में विद्यार्थी की मदद करनी पड़ेगी कि विश्व के साथ, वास्तविक विश्व के साथ—न कि उसकी कल्पना में बसे किसी रूमानी विश्व के साथ—उसके क्या सम्बन्ध हैं। साथ ही नैसर्गिक जगत, रेगिस्तान, जंगल या उसके आसपास के पेड़ों और जानवरों के साथ उसके क्या सम्बन्ध हैं। सौभाग्य से जानवरों में राष्ट्रवाद की भावना नहीं है, वे केवल जीवित रहने के लिए शिकार करते हैं। यदि शिक्षकों और विद्यार्थियों का सम्बन्ध प्रकृति,

वृक्ष, लहराते समुद्र आदि से नहीं है तो उनका मनुष्य से भी कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

प्रकृति क्या है? बहुत सारी बातें होती हैं, कोशिशें होती हैं, प्रकृति, जानवरों, पक्षियों, व्हेल और डॉल्फिन मछलियों को बचाने की, दूषित नदियों, झीलों, हरे-भरे मैदानों को साफ करने की। धर्म और विश्वास की तरह प्रकृति विचार की उपज नहीं है। फिर क्या है प्रकृति? अपनी विशाल ऊर्जा और शक्ति के साथ वह अद्‌भुत जानवर बाघ प्रकृति है; खेत में खड़ा वह एकाकी वृक्ष प्रकृति है, बाग-उपवन, हरे-भरे मैदान प्रकृति हैं; डाल के पीछे सकुचाकर छिपती गिलहरी, चींटी, मधुमक्खी और धरती की सारी जीवन्त चीज़ें प्रकृति हैं। नदी प्रकृति है—कोई विशेष नदी नहीं बल्कि सारी नदियाँ, चाहे वह गंगा, टेम्स या मिसीसिप्पी हो, प्रकृति हैं। बर्फ से ढके पहाड़, गहरी नीली घाटियाँ और सागर से मिलती पर्वतमालाएँ—यह सब प्रकृति है। ब्रह्माण्ड इस जगत का हिस्सा है। इन सबके प्रति हमारे अन्दर संवेदनशीलता होनी चाहिए , हमें इसे नष्ट नहीं करना चाहिए , अपनी ख़ुशी के लिए किसी को मारना नहीं चाहिए , किसी जानवर की बलि नहीं चढ़ानी चाहिए। पर कहीं-न-कहीं तो हमें सीमारेखा खींचनी पड़ती है। जैसे सब्जियों को हमें मारना पड़ता है क्योंकि ज़िन्दा रहने के लिए यह ज़रूरी है। तो हमें प्रज्ञापूर्वक देखकर चलना है।

प्रकृति हमारे जीवन का हिस्सा है। यह धरती हमारी जननी है और उसकी सारी चीजों के हम हिस्से हैं। लेकिन हमारे अन्दर से यह भावना तेजी से मिटती जा रही है कि जैसे हम जीवधारी हैं वैसे ही बाक़ी सब हैं। क्या आप वृक्षों के लिए कुछ महसूस करते हैं, उनके सौन्दर्य को देखते हैं, उनकी ध्वनियों को सुनते हैं? क्या आप उन छोटे-छोटे पौधों, घास-पात के तिनकों, दीवार पर चढ़ती हुई बेलों और पत्तियों-डालियों पर पड़ती रोशनियों, परछाइयों के प्रति संवेदनशील हैं? उन सबके प्रति सजगता और अपने चारों तरफ़ फैली प्रकृति के साथ एकात्म का भाव हमारे अन्दर ज़रूर होना चाहिए। आप कस्बों-शहरों में कहीं भी रहते हों लेकिन आपके आसपास पेड़ ज़रूर होंगे, क्या आप उनका ख़याल रखते हैं? हो सकता है आपके पड़ोस के बगीचे में किसी पेड़-पौधे की देखभाल नहीं हो पा रही हो, क्या आप उनकी देखभाल कर सकते हैं?

क्या आप यह महसूस कर सकते हैं कि आप उन सबके, सारी जीवित चीज़ों के हिस्से हैं? यदि आप प्रकृति को आहत करते हैं तो अपने-आप को आहत करते हैं।

मुझे पता है कि यह सब पहले भी अलग-अलग ढंग से कहा जा चुका है, लेकिन हम पर्याप्त ध्यान इस ओर देते हुए नहीं दिखते। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम अपनी समस्याओं, इच्छाओं, दुख-कष्टों और सुखाकांक्षाओं के जाल में इस क़दर उलझे हुए हैं कि हम अपने चारों तरफ़ कभी ध्यान से देख ही नहीं पाते? क्या किसी भी चीज़ को आपने ध्यान से देखा है? चाँद को देखा है आपने? अगर नहीं, तो देखिए ध्यान से। अपनी आँखों, कानों और महसूस करने की सारी क्षमता के साथ देखिए। इस तरह देखिए जैसे पहली-पहली बार देख रहे हों। तब आप वृक्षों, झाड़ियों और घास की पत्तियों को पहली बार देखेंगे; अपने शिक्षकों, माता-पिता, और भाई-बहनों को पहली बार देखेंगे। इसमें एक अलग-ही अनुभूति होगी—जैसे एक ताजी, अनोखी और अद्‌भुत सुबह जो न पहले कभी थी और न होगी। प्रकृति के साथ सच में एकात्म हो जाइए, केवल उसके शाब्दिक वर्णन में मत फँसिए। सजग होकर महसूस कीजिए कि आप उन सबसे जुड़े हुए हैं, उन सबके लिए आप में अनुराग है— उस हिरन के लिए, दीवार की उस छिपकली के लिए और ज़मीन पर पड़ी उस टूटी टहनी के लिए। साँझ के तारे या नये चाँद को देखिए, निःशब्द देखिए; केवल इतना कहकर कि यह कितना ख़ूबसूरत है उसकी ओर पीठ मत कर लीजिए; उसे इस तरह देखिए जैसे पहली बार देख रहे हों। यदि आप प्रकृति के साथ इस तरह एकात्म हैं तो आप मनुष्य के साथ, पास में बैठे बच्चे के साथ, अथवा शिक्षक या अपने माता-पिता के साथ भी एकात्म होंगे। हमारे भीतर से सम्बन्धों के वे सारे भाव जा चुके हैं जिसमें केवल स्नेह और ज़िम्मेदारी की बातें ही नहीं होतीं बल्कि एकात्मता का शब्दहीन एहसास भी होता है। यह ऐसा भाव है जिसमें हम महसूस करते हैं कि हम सभी साथ-साथ हैं, हम सभी मानव हैं, अविभाजित-अखंडित मानव जो किसी विशेष दल, जाति या आदर्शवादी अवधारणा से जुड़े नहीं हैं, और हम सभी इस अद्‌भुत, ख़ूबसूरत धरती पर एक साथ रह रहे हैं।

क्या आपने कभी सुबह उठकर खिड़की से बाहर झाँका है, या खुली छत पर जाकर वृक्षों और वसन्त ऋतु की उषा को निहारा है? इसे जीकर देखिए। पत्तियों में बहती मृदु हवा को सुनिए, हर ध्वनि और सरसराहट को सुनिए। पत्तियों के ऊपर फैले उजास को देखिए, पहाड़ियों और चरागाहों के पीछे से निकलते सूरज को देखिए। उस सूखी नदी, चरते हुए जानवरों और पहाड़ी के पीछे उन भेड़ों को देखिए। उन सबको स्नेह और परवाह की भावना से देखिए—आपके भीतर यह भाव हो कि आप किसी भी चीज़ को चोट नहीं पहुँचाना चाहते। प्रकृति के साथ जब आपकी ऐसी एकात्मता होती है तब दूसरों के साथ आपके सम्बन्ध सरल, सहज, पारदर्शी और द्वन्द्वरहित हो जाते हैं।

शिक्षक की एक ज़िम्मेदारी यह है कि वह इस भाव को विद्यार्थियों तक पहुँचाए। केवल गणित और कम्प्यूटर सिखा देना शिक्षक की ज़िम्मेदारी नहीं है। कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है उन मनुष्यों के साथ एकात्मता जो कष्ट सह रहे हैं, पीड़ा भोग रहे हैं, संघर्ष कर रहे हैं, निर्धनता की व्यथा झेल रहे हैं, और उनके साथ भी एकात्मता जो समृद्ध हैं, महँगी गाड़ियों में घूम रहे हैं। यदि शिक्षक यह सब महसूस करता है तो वह विद्यार्थी को संवेदनशील बनाने में मदद करेगा। यह संवेदनशीलता दूसरों के दुख-कष्टों के प्रति होगी, उनकी पीड़ा, दुश्चिन्ता, संघर्ष और परिवार में होने वाले लड़ाई-झगड़ों सबके प्रति होगी। शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वह बच्चों, विद्यार्थियों को इस तरह शिक्षित करे कि वे विश्व के साथ इस एकात्म भाव को महसूस करें। विश्व काफ़ी बड़ा हो सकता है लेकिन उनका अपना विश्व वहीं पर है जहाँ वे हैं। इससे दूसरों के लिए स्वतः स्नेह और ध्यान रखने की भावना पैदा होगी और एक ऐसा आचार-व्यवहार अपने-आप विकसित होगा जिसमें रुखाई, क्रूरता और असभ्यता नहीं होगी।

एक शिक्षक को इन सारी बातों की चर्चा करनी चाहिए—सिर्फ़ मौखिक तौर पर नहीं बल्कि उसे स्वयं महसूस करना चाहिए इस संसार को, प्रकृति और मानवीय जगत को। ये सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और मनुष्य इनसे अलग नहीं हो सकता। यदि वह प्रकृति को नष्ट करता है तो वह स्वयं को नष्ट करता है। यदि वह दूसरों को मारता है तो वह स्वयं को मारता है। शत्रु दूसरा कोई नहीं, आप स्वयं हैं। प्रकृति के साथ, विश्व के साथ इस तरह एकात्म होकर जीने से एक भिन्न प्रकार का संसार स्वतः अस्तित्व में आ जाता है।

15 नवम्बर 1983

अवलोकन से हम जितना सीखते हैं उतना किताबों से नहीं। गणित-भूगोल जैसे विषयों को पढ़ने के लिए किताबें ज़रूरी हैं। इन किताबों में वैज्ञानिकों, दार्शनिकों या पुरातत्त्वविदों द्वारा खोजी गई जानकारियों का संग्रह होता है जिन्हें आप स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालयों में जाकर पढ़ते हैं (अगर आप इतने सौभाग्यशाली हैं तो)। कई शताब्दियों से ये जानकारियाँ दुनियाभर में खोजी और इकट्ठी की जाती रही हैं— प्राचीन भारत में, इजिप्ट में, मैसोपोटामिया, ग्रीक, रोम और पर्शिया में। पश्चिम या पूरब के किसी भी देश में नौकरी या कोई काम पाने के लिए इन जानकारियों का होना बहुत ज़रूरी है। तमाम तरह की खोजों से जानकारियाँ हासिल कर बहुत सारा तकनीकी विकास हो भी चुका है, ख़ासकर इस देश में। तकनीकी ज्ञान के अलावा ज्ञान का एक क्षेत्र और है, वह है तथाकथित पवित्र और धार्मिक पुस्तकों का, जैसे वेद, उपनिषद, बाइबल, कुरान आदि। इस तरह पुस्तकें दो हिस्सों में बँटी हुई हैं— धार्मिक क्षेत्र में और व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में। चाहे आपका कोई भी पेशा हो, इंजीनियर का, जीवविज्ञानी का या बढ़ई का, तकनीकी ज्ञान वाली पुस्तकें आपके काम के लिए बेहद ज़रूरी हैं।

अधिकांश लोग विद्यालयों में और विशेषकर इन विद्यालयों में जानकारियाँ और सूचनाएँ इकट्ठी करने जाते हैं। ये विद्यालय अब तक इसीलिए रहे भी हैं। वहाँ हम बाहरी दुनिया के बारे में, आकाश, चाँद-सितारों के बारे में, मनुष्य के शरीर और उसके दिमाग़ की बनावट के बारे में, प्रकृति, वातावरण और अर्थशास्त्र के बारे में और उन तमाम प्रश्नों के बारे में जैसे— समुद्र का पानी खारा क्यों है, पेड़ क्यों उगते हैं, इन सबके बारे में सीखते हैं। विभिन्न विषयों के बारे में जानकारियों का संग्रह सीखने का हिस्सा है। ज्ञान का यह क्षेत्र बहुत आवश्यक है, पर यह सीमित भी है। ज्ञान का आप चाहे जितना विकास कर लें, वह हमेशा सीमित रहेगा। यह ज़रूर है कि इससे आपको रोजगार मिल जाएगा— इसकी

मदद से आप कोई मनपसन्द काम कर रहे होंगे अथवा परिस्थितियों के दबाव में मजबूरीवश कोई ऐसा काम जो आपको अधिक पसन्द न हो।

लेकिन जैसा कि मैंने कहा, अवलोकन से आप काफ़ी कुछ सीखते हैं— अपने चारों तरफ़ की चीज़ों को देखने से, चिड़िया, पेड़, आकाश, तारों और नक्षत्रों को देखने से, लोगों और उनके हाव-भावों, चलने, बोलने, पहनने-ओढ़ने के रंग-ढंग को बारीकी से देखने से आप काफ़ी कुछ सीखते हैं। इसके अलावा आप अपना भी अवलोकन करते हैं, जैसे आप क्या सोचते हैं, और क्यों, आपके तौर-तरीके और व्यवहार क्या हैं, आपके माता-पिता आपसे कुछ विशेष तरह की अपेक्षाएँ क्यों रखते हैं आदि। आपको सिर्फ़ देखना है, प्रतिरोध नहीं करना है। अगर आप प्रतिरोध करेंगे तो आप सीख नहीं पायेंगे। अगर आप किसी नतीजे पर पहुँचेंगे, किसी चीज़ को सही मानकर उसके पीछे हो लेंगे, तब भी आप कुछ नहीं सीख पायेंगे। सीखने के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है, और जिज्ञासा भी, जैसे कि आप या कोई दूसरा व्यक्ति एक ख़ास ढंग से ही क्यों व्यवहार करते हैं, या लोग क्रोध क्यों करते हैं और आप चिढ़ते क्यों हैं आदि।

सीखने की क्रिया असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह कभी ख़त्म नहीं होती। जैसे यह सीखना कि मनुष्य एक-दूसरे की जान क्यों लेता है। यह अलग बात है कि किताबों में इसके मनोवैज्ञानिक कारण दिये हुए हैं कि मनुष्य हिंसक क्यों है और एक ख़ास ढंग से ही क्यों व्यवहार करता है। बड़े-बड़े लेखकों और मनोवैज्ञानिकों ने इसकी अलग-अलग व्याख्या की है। लेकिन आप जो पढ़ते हैं वह आप स्वयं नहीं हैं। आप क्या हैं, कैसे व्यवहार करते हैं, क्यों क्रोध और ईर्ष्या करते हैं, क्यों अवसाद से घिर जाते हैं— अगर आप इस सबका अपने अन्दर अवलोकन करें तो आप उन किताबों की तुलना में कहीं अधिक गहराई से जान पायेंगे कि आप क्या हैं। लेकिन जैसा कि आपको पता है, स्वयं के अवलोकन की अपेक्षा स्वयं के बारे में एक किताब पढ़ लेना कितना आसान होता है।

हमारा मस्तिष्क बाहर की क्रिया-प्रतिक्रियाओं से जानकारी हासिल करने का अभ्यस्त है। क्या आपको यह काफ़ी सुविधाजनक नहीं लगता कि आपको कोई बता दे कि आपको क्या करना है? आपके माता-पिता, ख़ासकर पूरबी देशों

में, आपको बताते हैं कि आपको क्या करना चाहिए, किससे शादी करनी चाहिए, आदि। इस तरह मस्तिष्क आसान रास्ते पर चलना पसन्द करता है, लेकिन आसान रास्ता हमेशा सही नहीं होता। पता नहीं आपका ध्यान इस ओर गया भी है या नहीं कि आमतौर पर कोई भी व्यक्ति अपने काम से प्यार नहीं करता। कुछ वैज्ञानिकों, कलाकारों या पुरातत्त्वविदों को छोड़ भी दें तो एक सामान्य दर्जे के व्यक्ति को अपने काम से लगाव नहीं होता। तमाम तरह के दबावों से घिरकर वह काम करता है— समाज के, माता-पिता के या अधिक धन कमाने की इच्छा के। तो इस तरह हमें बहुत-ही सावधानी के साथ अवलोकन करते हुए सीखना चाहिए और बाहर की दुनिया के साथ अपने भीतर की दुनिया का भी निरीक्षण करना चाहिए।

सीखने के दो तरीके हो सकते हैं— पहला है पढ़ना, ढेर सारा ज्ञान इकट्ठा करना और फिर उस ज्ञान से क्रिया करना। हममें से अधिकतर लोग यही करते हैं। दूसरा है कुछ करते हुए सीखना, जो कि पुनः ज्ञान का संग्रह है। वास्तव में दोनों क्रियाएँ समान हैं, यानी पढ़कर सीखना या कुछ करते हुए सीखना। दोनों ही का आधार अनुभव और ज्ञान है, और ये दोनों ही, जैसाकि हम कह चुके हैं, सीमित हैं।

तो शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को मिलकर यह पता लगाना होगा कि सीखना वास्तव में क्या होता है। जैसे आप किसी गुरु से सीखते हैं, जो सही मायने में गुरु है, न कि धन कमाने वाला, प्रसिद्धि चाहने वाला, या अपने बेसिर-पैर के सिद्धान्तों से विदेशों में किस्मत आज़माने वाला। पता लगाइये कि सीखना क्या है। आजकल सीखना मनोरंजन का एक रूप बनता जा रहा है। पश्चिम के कुछ विद्यालयों में तो छात्र हाईस्कूल पास करने के बाद भी पढ़ना-लिखना नहीं जान पाते। और यदि आप लिखना-पढ़ना और कई विषय जानते भी हैं तो एक औसत दर्जे के मनुष्य बने रहते हैं। आपको पता है औसत दर्जे का मनुष्य कौन होता है? वह, जो कि पर्वत के शिखर तक नहीं पहुँचता, बीच में ही ठहर जाता है; जो अपने से सर्वोत्तम की माँग नहीं करता।

सीखना कभी न ख़त्म होने वाली प्रक्रिया है। लेकिन प्रश्न है कि आप सीखते किससे हैं? किताबों से? शिक्षकों से? अथवा निरीक्षण से (अगर आपका

दिमाग़ तेज है तो)? अभी तक तो आप बाहर की चीज़ों से सीखते आए हैं, जानकारियाँ इकट्ठी करके, और फिर उनकी मदद से काम करते हुए। इस तरह आप अपना कैरियर भी बना लेते हैं। लेकिन अगर आप अपने-आप से सीखते हैं, यानी अपने को, अपने पूर्वाग्रहों, निष्कर्षों, मान्यताओं, अपने विचारों की बारीकियों को, अपनी असभ्यता और संवेदनशीलता को देखते हुए , तो आप स्वयं ही शिक्षक और विद्यार्थी बन जाते हैं। तब आप अन्दरूनी तौर पर किसी पर निर्भर नहीं होते, न किसी किताब पर, न किसी विशेषज्ञ पर। यह बात अलग है कि जब आप बीमार पड़ेंगे तो किसी विशेषज्ञ के पास जायेंगे, जो कि स्वाभाविक है। लेकिन कोई कितना भी श्रेष्ठ हो यदि आप उस पर आश्रित हैं तो आप अपने बारे में सीखना बन्द कर देंगे। और यह सीखना बेहद ज़रूरी है कि आप क्या हैं। क्योंकि आप जो हैं उसी से यह समाज बना है जो कि इतना भ्रष्ट, अनैतिक, हिंसक और आक्रामक है, जहाँ हर कोई अपनी सन्तुष्टि और सफलता के पीछे भाग रहा है। आप क्या हैं, यह आपको किसी और के द्वारा नहीं सीखना है बल्कि स्वयं को देखते हुए सीखना है, बिना आलोचना करते हुए, अथवा यह कहते हुए कि 'हम जैसे हैं वैसे ही सही हैं'। जब आप बिना प्रतिरोध और प्रतिक्रिया के स्वयं का अवलोकन करते हैं तो वह अवलोकन ही क्रिया बन जाता है— और वह एक ज्वाला की तरह होता है जिसमें सारी निर्बुद्धताएँ और भ्रम जलकर राख हो जाते हैं।

तो सीखना महत्त्वपूर्ण है। जो मस्तिष्क सीखना बन्द कर देता है वह यान्त्रिक हो जाता है। वह खूँटे में बँधे हुए जानवर की तरह होता है जो सिर्फ़ रस्सी की लम्बाई के अनुसार ही इधर-उधर चल सकता है। हममें से अधिकतर लोग अपने-अपने खूँटों और रस्सियों से बँधे हुए हैं और उसी की सीमा में चक्कर लगा रहे हैं। बिल्कुल इसी तरह एक इन्सान दिन-रात सिर्फ़ अपने बारे में ही सोचता रहता है, अपनी चाहतों और सुख-सुविधाओं के बारे में, तमाम तरह की समस्याओं के बारे में। हर वक़्त अपने में ही व्यस्त रहने की इस आदत का आपको पता ही है। यह हद दर्जे की संकीर्णता है जो हर तरह के दुख और तनाव का कारण बनती है।

जितने भी बड़े-बड़े कवि, चित्रकार, संगीतकार, कलाकार हुए हैं वे कभी

भी अपनी रचना से सन्तुष्ट नहीं रहे। वे हमेशा सीखते रहे। ऐसा नहीं होना चाहिए कि इम्तिहान पास करने और नौकरी पा लेने के बाद आप सीखना बन्द कर दें। सीखने से, और ख़ासकर अपने बारे में सीखने से, काफ़ी शक्ति और ऊर्जा मिलती है। हमें सीखते रहना चाहिए, देखते रहना चाहिए ताकि अपने अन्दर का कोई भी हिस्सा अछूता और अनदेखा न रह जाए। इसका अर्थ है कि आपको अपनी संस्कारबद्धता से मुक्त होना पड़ेगा। यह संस्कारबद्धता ही है जिसके कारण यह संसार इतने हिस्सों में बँटा हुआ है, आप बँटे हुए हैं— भारतीय के रूप में, अंग्रेज, अमेरिकन, रूसी और चीनी व्यक्ति के रूप में। इसी के कारण युद्ध हो रहे हैं, हज़ारों लोग मारे जा रहे हैं, हर तरफ़ बर्बरता और दुख का साम्राज्य है।

इसलिए शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को मिलकर सीखना है— सतही तौर पर नहीं बल्कि सीखने का जो गहरा अर्थ है उसके मुताबिक़। जब दोनों ही एक साथ सीखते हैं तो शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच विभाजन नहीं रह जाता, तब केवल 'सीखना' चलता है। सीखने की प्रक्रिया मस्तिष्क को उन विचारों से मुक्त कर देती है जो उसे मान, सम्मान और प्रतिष्ठा के मकड़जाल में फँसाते हैं। सीखने की प्रक्रिया में पूरी मनुष्यजाति एक हो जाती है।

●

कृष्णमूर्ति शिक्षा केन्द्र
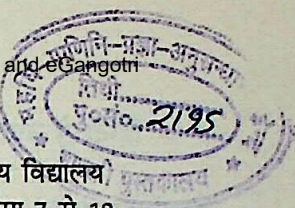
राजघाट बेसेंट स्कूल राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी-221001	आवासीय विद्यालय आयु सीमा 7 से 18
वसन्त महिला महाविद्यालय राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी-221001	बी०ए० एवं बी०एड० वयस्क छात्राओं के लिए
ऋषि वैली स्कूल ऋषि वैली-517352 जिला- चित्तूर, आन्ध्र प्रदेश	आवासीय विद्यालय आयु सीमा 8 से 17
द वैली स्कूल 'हरिद्वनम' 17 के०एम० कनकपुरा रोड थाटगुनी, बंगलौर-560062	दिवसीय/आवासीय विद्यालय आयु सीमा 6 से 17
द स्कूल 'दामोदर गार्डन्स' बेसेंट एवन्यू , मद्रास-600020	दिवसीय विद्यालय आयु सीमा 6 से 17
सहयाद्री स्कूल तिवाई हिल्स, राजगुरुनगर, पुणे-410513	आवासीय विद्यालय आयु सीमा 10 से 15
नचिकेत देवीधार, डूंडा-249151 उत्तरकाशी, उत्तरांचल	प्रारम्भिक विद्यालय आसपास के बच्चों के लिए
बाल आनन्द 'आकाश दीप' 28 डोंगेर्सी रोड, मुंबई-400006	छोटे बच्चों के लिए
ब्रॉकवुड पार्क ब्रेमडन, हैम्पशायर SO240LQ, UK	आवासीय शिक्षा केन्द्र 14 वर्ष से ऊपर वयस्क विद्यार्थियों के लिए
द ओक ग्रोव स्कूल पोस्ट बॉक्स-1560 ओहाय, कैलीफ़ोर्निया 93023	दिवसीय/आवासीय विद्यालय आयु सीमा 3½ से 17

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति का शिक्षा सम्बन्धी साहित्य

स्कूलों के नाम पत्र : भाग 1	60.00
शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	60.00
शिक्षा संवाद	75.00
सीखने की कला	15.00
स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	10.00

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति का अन्य साहित्य

ज्ञात से मुक्ति	70.00
हिंसा से परे	90.00
गरुड़ की उड़ान	50.00
संस्कृति का प्रश्न	50.00
आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	60.00
जीवन भाष्य-1	60.00
जीवन भाष्य-2	70.00
जीवन भाषय-3	80.00
ध्यान	40.00
वाशिंगटन वार्ताएँ	25.00
अन्तिम वार्ताएँ	70.00
परिसंवाद (त्रैमासिक)	10.00
	(वार्षिक 35.00)

विस्तृत जानकारी के लिए सम्पर्क करें—

जे० कृष्णमूर्ति प्रज्ञा परिषद्

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया

राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी-221001
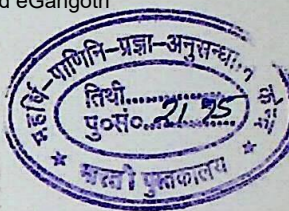
मनुष्य का समग्र अन्तर-बाह्य प्रस्फुटन जे० कृष्णमूर्ति की शिक्षा के केन्द्र में है। इसी को ध्यान में रखकर उन्होंने आरम्भ से ही बच्चों की सम्यक् एवं समग्र शिक्षा पर विशेष बल दिया। शिक्षक एवं शिक्षार्थी मिलकर जीवन के मौलिक प्रश्नों का अनुसंधान कर सकें, इसी दृष्टि से उन्होंने भारत, इंग्लैण्ड एवं अमेरिका में विद्यालयों की स्थापना की। समय-समय पर वे इन विद्यालयों को पत्र लिखते थे जिनमें वे शिक्षक-शिक्षार्थी के सम्बन्धों, शिक्षा के स्वरूप एवं उद्देश्य तथा अभिभावक की भूमिका एवं उत्तरदायित्व पर विस्तार से प्रकाश डालते। सन् 1978 से सन् 1983 तक वे अपने विद्यालयों को नियमित पत्र लिखते रहे जिनका प्रकाशन दो भागों में हुआ। इसके पहले भाग का हिन्दी अनुवाद 'स्कूलों के नाम पत्र' से प्रकाशित हुआ। दूसरे भाग का हिन्दी अनुवाद 'स्कूलों को पत्र' नाम से प्रस्तुत है।

शिक्षा/दर्शन

मूल्य : 40.00 रुपये